आचार्यश्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती कृत

गोम्मटसार कर्मकाण्ड

पयडि-समुक्कित्तण नामक
प्रथम अध्याय-विवेचिका

लेखिका/सम्पादिका :
ब्र. कल्पना जैन, सागर;
एम.ए., शास्त्री

प्रकाशक :
अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन
शाखा न्यू उस्मानपुर, दिल्ली

पूर्व दो संस्करण :
७००० प्रतिआँ
तृतीय संस्करण :
१००० प्रतिआँ

वीर निर्वाण दिवस/दीपावली
३ नवम्बर, २०१३

मूल्य : २०/-

प्राप्ति स्थान :
卐 **अ.भा. जैन युवा फैडरेशन**
जैन नगर, न्यू उस्मानपुरा,
नई दिल्ली
卐 **डॉ. दीपक जैन वैद्य**
सी-११५, सावित्री पथ,
बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५
卐 **श्री वीतराग विज्ञान प्रभावना मण्डल**
१३३/७१, एम.ब्लॉक,
किदवई नगर,
कानपुर - २०८०११
卐 **सिंघई ग्रन्थालय**
चक्रेशकुमार सुधीरकुमार जैन,
बस स्टैण्ड के पास, कृष्णगंज,
सागर (म.प्र.) ४७०००२
卐 **मात्र आकर ले जाने-हेतु**
ब्र. कल्पना जैन सागर
मंगलधाम, डी.१०७
पं. टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर,
जयपुर, ३०२०१५

हमारे यहाँ उपलब्ध साहित्य

१. प्रवचनसार, पंचास्तिकायसंग्रह पद्यानुवाद	५/-
२. मोहक्षय का रामबाण उपाय (प्रवचनसार की ८०वीं गाथा पर प्रवचन)	५/-
३. वर्तमान में जैन श्रावकाचार : एक संक्षिप्त विवरण	६/-
४.बालबोध मार्गदर्शिका (मराठी)	१०/-
५. तत्त्वज्ञान मार्गदर्शिका भाग १ (मराठी)	१०/-
६. बालबोध विवेचिका	१५/-
७. तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग १	२०/-
८.गोम्मटसार कर्मकाण्ड विवेचिका भाग १	२०/-
९. वीतराग-विज्ञान मार्गदर्शिका (मराठी)	२०/-
१०. वीतराग-विज्ञान विवेचिका	२५/-
११. तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग २	२५/-
१२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड विवेचिका भाग २	३०/-
१३. श्री सिद्धचक्र मण्डल विधान (सार्थ)	५०/-
१४. तत्त्वार्थसूत्र वचनिका भाग १ पं. चेतनदासजी कृत (१ से ३ अध्याय)	५०/-
१५. तत्त्वार्थसूत्र वचनिका भाग २ पं. चेतनदासजी कृत (४ से १० अध्याय)	४५/-
१६. नय-रहस्य	४०/-
१७. श्री रत्नत्रय मण्डल विधान	
१८. श्री तत्त्वसार मण्डल विधान	
१९. श्री बोधपाहुड मण्डल विधान	
२०. श्री लिंगपाहुड मण्डल विधान	
२१. श्री दर्शनपाहुड मण्डल विधान	
२२. श्री दानोपदेश मण्डल विधान	
२३. श्री शान्ति विधान (सचित्र)	
२४. श्री पंचपरमेष्ठी विधान	
२५. श्री सरस्वती विधान	
२६. श्री भक्तामर मण्डल विधान	
२७. श्री महावीर पंचकल्याणक मण्डल विधान	
२८. श्री पार्श्वनाथ पंचकल्याणक मण्डल विधान	

मनोगत

सभी जैन-परीक्षा-बोर्डों के पाठ्यक्रम में स्थान-प्राप्त, आचार्य धरसेन प्रदत्त ज्ञान के आधार पर आचार्य पुष्पदन्त-भूतबली द्वारा सर्व-प्रथम लिपि-बद्ध अध्यात्म के आधारभूत प्रथम श्रुत-स्कन्ध के मूल-ग्रंथ षट्खंडागम का सार लेकर आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती द्वारा रचित गोम्मटसार ग्रंथ को जब-जब भी पढ़ाने का अवसर प्राप्त हुआ, तब-तब 'इसे प्रश्नोत्तर शैली में लिपिबद्ध करूँ'—यह भावना प्रबल हो जाती थी।

इसी भावना की फल-श्रुति के रूप में गोम्मटसार कर्मकांड प्रकृति समुत्कीर्तन नामक प्रथम अधिकार की प्रस्तुत विवेचिका आपके समक्ष उपस्थित हुई है। इसमें गाथा-हिन्दी-पद्यानुवाद, शब्दश: अर्थ, अन्वय, सरलार्थ, स्पष्टीकरण के साथ ही प्रत्येक प्रकरण को समझने से होनेवाले लाभ भी लिपिबद्ध हुए हैं।

अपनी ओर से बुद्धि-पूर्वक यथा-शक्ति पूर्ण सावधानी रखने पर भी विषय की गहनता-गंभीरता के कारण स्खलन की संभावना का निषेध करना असंभव है; अत: जिनवाणी की परम्परा के संरक्षक, संपोषक, संवर्धक, सजग, मार्ग-दर्शक परम पूज्य सकल साधु-संघों, विज्ञ-जनों, विद्वद्-वृंदों, सुधी-पाठकों से अति विनम्रता-पूर्वक कर-बद्ध निवेदन है कि वे मेरे ऊपर कृपा-दृष्टि रखते हुए स्खलित बिंदुओं से अवगत कराकर मुझे अनुग्रहीत करेंगे।

जिनवाणी के अध्ययन-मनन-चिंतन में रुचि रखने वाले इससे अवश्य ही लाभांवित हो, अपना सुख-शांति का मार्ग प्रशस्त करेंगे—इसी पावन भावना के साथ आपके कर-कमलों में यह सादर समर्पित है।

श्री वीर निर्वाण दिवस — **कल्पना जैन, सागर**
मंगलवार, २० अक्टूबर १९९८ — **एम.ए., शास्त्री**

प्रकाशनार्थ आर्थिक-सहयोग-दाता-राशि - ३००००/- *: स्वाध्याय महिला मंडल कलकत्ता;* १००००/- : सौ. शीतल श्रीपाल सिंघवी निगड़ी पुणे, मुमुक्षु मंडल झाँसी, श्री दि. जैन मु.मं. कलकत्ता; ५१००/- *: स्वाध्याय मंडल विश्वास नगर दिल्ली, महिला मंडल जसवंतनगर (उ.प्र.), सौ. पुष्पाबेन धीरजलाल शेठ मुम्बई, स्वाध्याय मंडल रानीपुर,* ११००/- : श्रीमती सुशीला बाई दिल्ली, सौ. जानकी बाई दरबारी लाल जैन सागर, सौ. पुष्पा चक्रेश कुमार जैन सागर, सौ. सविता अजित कुमार जैन खुरई, सौ. अर्चना अरविन्द कुमार जैन गढ़ाकोटा, सौ. राजकुमारी महावीर प्रसाद सरावगी कलकत्ता, सौ. सुनीता डॉ. विमलचंद्र जैन सागर, सौ. प्रीति सुधीर कुमार जैन सागर, सौ. एकता पलाश भूषण साँधेलिया छिन्दवाड़ा।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार की विषयानुक्रमणिका

विषय	गाथा क्रमांक	पृष्ठांक
प्रकाशकीय		
मनोगत		
ग्रंथकार-परिचय		१
ग्रंथ-परिचय		३
ग्रंथ-नामकरण-कारण और विषय-वस्तु		६
मंगलाचरण	१	७
जीव-कर्म संबंध	२	९
कर्मबंध का मूलकारण	३	१२
प्रतिसमय बँधनेवाले कर्मों की संख्या	४	१४
डेड़-गुण-हानि-प्रमाण-सत्ता	५	१६
द्रव्यकर्म-भावकर्म	६	२२
कर्म के भेद	७-८	२९
घाति-अघाति कर्म	९-१०	३१
आयुष्क-कर्म	११	४०
नाम-कर्म	१२	४३
गोत्र-कर्म	१३	४६
वेदनीय-कर्म	१४	४८
सम्यक्त्व-प्रगटता में सप्तभंगी की भूमिका	१५	५१
कर्मों के क्रम का औचित्य	१६-२०	५६
कर्मों के उदाहरण	२१	६२
कर्म भेद-प्रभेद का स्वरूप	२२	६८
पाँच निद्राओं का स्वरूप	२३-२५	७७
दर्शनमोहनीय के भेद	२६	८१
शरीर के १५ भेद	२७	८७
शरीर के अंगोपांग	२८	९१
संहननानुसार ऊर्ध्व-अधो उत्पत्ति-क्रम	२९-३२	९३
अग्नि, आतप, उद्योत-स्वरूप	३३	९९
भेदाभेद विवक्षा में बंध, उदय, सत्त्व-योग्य प्रकृतिआँ	३४-३८	१०१
सर्वघाति-देशघाति प्रकृतिआँ	३९-४०	१०५
प्रशस्त-अप्रशस्त प्रकृतिआँ	४१-४४	१०९
कषाय-कार्य-वासनाकाल	४५-४६	११६
विपाकापेक्षा कर्म विभाजन	४७-५१	१२१
कर्मसंबंधी निक्षेप	५२	१३१
स्थापना निक्षेप	५३	१३३
द्रव्यनिक्षेप, प्रथम-भेद	५४	१३५
नो आगमद्रव्य निक्षेप-भेद	५५-५६	१३७
कदलीघातमरण, त्यक्त-भेद	५७-६१	१४०
भावी नोआगम	६२	१४९
तद् व्यतिरिक्त और भाव निक्षेप	६३-६६	१५१
मूलप्रकृति निक्षेप का समापन, उदाहरण	६७-६९	१५५
ज्ञानावरण उ.प्र. नोकर्म	७०-७१	१५८
दर्शनावरण और वेदनीय उ.प्र. नोकर्म	७२-७३	१६१
मोहनीय उ.प्र. नोकर्म	७४-७७	१६५
आयुष्क उ.प्र. नोकर्म	७८	१६८
नामकर्म उ.प्र. नोकर्म	७९-८३	१७०
गोत्र-अंतराय उ.प्र. नोकर्म	८४-८५	१७५
नो आगमभाव निक्षेप	८६	१७८
एकांकी नाटक : अपराधी कौन ?		१८०
गो.क. : प्र.स.अ. गाथा वर्णानुक्रमणिका		१९३

ॐ

आचार्य श्री नेमिचंद्र सिद्धांत–चक्रवर्ती कृत

गोम्मटसार–कर्मकाण्ड

पयडि–समुक्कित्तण (प्रकृति–समुत्कीर्तन) अधिकार–विवेचिका

मंगलाचरण

दोहा छंद : **कर्मकाण्ड के ज्ञान बिन, क्रिया कर्म के काण्ड।**
करके माना हम महा, धर्मात्मा गुणखान।।१।।
पर पा सके न सौख्य को, समता शान्ति दूर।
मिटा न भव का भ्रमण भी, कर्म लगा अति क्रूर।।२।।
कर्मकाण्ड के ज्ञान से, दूर हुआ अज्ञान।
हूँ अनन्त वैभवमई, हुआ स्वयं का ज्ञान।।३।।
अब विभाव सीमित हुआ, भव भी सीमित आज।
दूर हुई परतन्त्रता, सुधर गए सब काज।।४।।
जिनेश जिनगुरु मुखमई, वाणी का आशीष।
पा नित निज में ही रहूँ, नमा उन्हें अब शीष।।५।।
सभी कर्म को समझकर, सभी कर्म का नाश।
करके पाएँ परमपद, सुख शान्ति अविनाश।।६।।
गोम्मटसार विवेचिका, करने का है भाव।
परम देव आशीष से, मेटूँ यह भी भाव।।७।।
रहूँ स्वरूप निमग्न नित, सभी रहें स्व मग्न।
हों निमग्न निज में सभी, संकट होवें भग्न।।८।।
ज्ञानानन्द – निमग्नता, से मिटते सब कष्ट।
द्रव्य–भाव–नो–कर्म सब, इससे होते नष्ट।।९।।

प्रश्न १ : आचार्य श्री नेमिचंद सिद्धांत–चक्रवर्ती का व्यक्तित्व और कर्तृत्व स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : **''जह चक्केण य चक्की, छक्खंडं साहियं अविग्घेण।**
तह मइ चक्केण मया, छक्खंडं साहियं सम्मं।।

जिसप्रकार चक्रवर्ती चक्र-रत्न द्वारा निर्विघ्नरूप से आर्य-म्लेच्छ रूप छह खण्डों को साध लेता है/उन पर अपना अखण्ड आधिपत्य स्थापित कर लेता है; उसीप्रकार मैंने अपने बुद्धिरूपी चक्र द्वारा षट्खण्डरूप आगम को भली-भाँति साधा है, उनके विषय को हृदयंगम किया है, आत्मसात् किया है।''

उपर्युक्त कथन स्वयं आचार्यश्री नेमिचंद्र सिद्धांत-चक्रवर्ती ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा ३९७वीं में किया है। इससे ही उनकी स्वाध्याय-प्रियता, आगम-निष्ठता, अगाध-विद्वत्ता का परिचय प्राप्त हो जाता है।

जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्त, वेयणाखंड, वग्गणाखंड और महाबंध—इन छह खंडों में विभक्त 'षट्खण्डागम' ग्रंथ वर्तमान-युगीन उपलब्ध जिनवाणी के प्रथम श्रुत-स्कन्ध का सर्व-प्रथम लिपिबद्ध ग्रंथ है। यह ग्रंथ 'सिद्धांत-ग्रंथ' कहलाता है। षट्खण्ड पर आधिपत्य करनेवाले चक्रवर्ती के समान, इस ग्रंथ को पूर्णतया हृदयंगम कर लेने से आप, 'सिद्धांत-चक्रवर्ती' उपाधि से विभूषित हुए।

आप, राजा चामुण्डराय के सम-कालीन होने से आपका समय ग्यारहवीं शती का पूर्वार्ध माना गया है। राजा चामुण्डराय तत्कालीन प्रधानतम गंग-वंशीय राजा राचमल्ल/रायमल्ल के मंत्री तथा सेनापति थे। उनका घरेलू नाम गोम्मट था। आचार्य श्री नेमिचंद्र सिद्धांत-चक्रवर्ती देशीय-गण के प्रसिद्ध आचार्य हैं। आपने अपने गुरु के रूप में आचार्य श्री वीरनन्दी, अभयनन्दी, इन्द्रनन्दी और कनकनन्दी का बड़ी श्रद्धा के साथ उल्लेख किया है (गोम्मटसार-कर्मकाण्ड गाथा ३९६, ४३६,७८५; त्रिलोकसार गाथा १०१८, क्षपणासार गाथा ६५२)।

अन्य जैनाचार्यों की प्रचलित परम्परा के समान, आपके भी वर्तमान जीवन के संबंध में इससे अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं है।

आपके द्वारा रचित गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार और त्रिलोकसार आपकी धवल-कीर्ति के अक्षय-स्तम्भ हैं। इन कृतिओं की संक्षिप्त विषय-वस्तु इस -प्रकार है—

गोम्मटसार जीवकाण्ड : षट्खण्डागम के जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्त, वेयणाखंड और वग्गणाखंड नामक पाँच खण्डों के संक्षिप्त-साररूप इसमें; गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग—इन बीस प्ररूपणाओं के माध्यम से बंधक जीव द्वारा किए गए काण्डों का वर्णन किया गया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड : षट्खण्डागम के छठवें खंड महाबंध तथा अवान्तर अधिकाररूप पयडिसमुक्कित्तण और जीवट्ठाण चूलिया के संक्षिप्त-साररूप इसमें; बंधक जीव की विविध विकृतिओं का निमित्त पाकर होनेवाली कर्म की बंध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति और निकाचित रूप दश दशाओं का वर्णन किया गया है।

लब्धिसार : गुणधराचार्य-कृत कषायपाहुड के ग्यारहवें, बारहवें अधिकार के साररूप इसमें; सम्यग्दर्शन की कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण नामक पाँच लब्धिओं का विस्तृत विवेचन किया गया है।

क्षपणासार : गुणधराचार्य-कृत कषायपाहुड के तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें अधिकार के साररूप इसमें; गुणस्थान क्रमानुसार कर्मों के क्षय की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन है।

त्रिलोकसार : यतिवृषभाचार्य-कृत तिलोयपण्णत्ति के साररूप इस ग्रंथ में; अधो-लोक, मध्य-लोक और ऊर्ध्व-लोक संबंधी विस्तृत जानकारी निहित है।

इन गंभीर साहित्यिक कृतिओं द्वारा आपने जिनवाणी माँ के अक्षय-कोश को जो अमूल्य निधिआँ समर्पित की हैं, उनसे युगों-युगों पर्यंत आपकी यशो-पताका, दिग्दिगंत व्याप्त रहेगी।

प्रश्न २ : 'गोम्मटसार' ग्रंथ की रचना तथा नामकरण का कारण स्पष्ट करते हुए गोम्मटसार कर्मकाण्ड की विषय-वस्तु पर प्रकाश डालिए?

उत्तर : विजन-वन में एक बार आचार्य श्री नेमिचंद्र सिद्धांत-चक्रवर्ती षट्खण्डागम ग्रंथ का स्वाध्याय कर रहे थे। उसी समय अपने परम-भक्त 'वीरमार्तण्ड' 'चामुण्डराय' को आता देखकर उन्होंने स्वाध्याय बंद कर दिया। विनय, भक्ति आदि करने के बाद स्वाध्याय

बंद कर देने का कारण सविनय बारम्बार पूछने पर आपने कहा कि केवलज्ञान-गम्य, गहन, सूक्ष्म विषयमय इन आगम ग्रंथों के स्वाध्याय का अधिकार, राजनीति में उलझे तुम-जैसे गृहस्थों के लिए नहीं है।

तब फिर हम-जैसों को इन विषयों का कुछ ज्ञान हो जाए, ऐसा कोई मार्ग निकालिए—पुन:-पुन: साग्रह ऐसे अनुरोध को स्वीकार कर, आपने अपनी पुनीत ज्योतिर्मय तूलिका से चामुण्डराय के अज्ञानांधकार को दूर करने के लिए षट्खण्डागम ग्रंथ के साररूप में इस पावन ग्रंथ की रचना की। चामुण्डराय का घरेलू नाम गोम्मट होने के कारण इस ग्रंथ का नाम 'गोम्मटसार' रखा गया।

श्रवणबेलगोला के विंध्यगिरि पर चामुण्डराय द्वारा निर्मापित गोम्मटेश्वर बाहुबलि की उत्तुंग प्रतिमा के सामने चंद्रगिरि पर उसके ही द्वारा निर्मापित श्री नेमिनाथ जिनालय में एक हस्त-प्रमाण इन्द्रनील मणिमय श्री नेमिनाथ भगवान की प्रतिमा के सम्मुख बैठकर आचार्य श्री नेमिचंद्र सिद्धांत-चक्रवर्ती ने इस गोम्मटसार ग्रंथ की रचना की थी।

प्रस्तुत ग्रंथ दो भागों में विभक्त है—**१.**जीवकाण्ड, **२.**कर्मकाण्ड।

विवेच्य ग्रंथ कर्मकाण्ड में जीव के परिणामों का निमित्त पाकर होनेवाली द्रव्य-आस्रव, द्रव्य-बंध, द्रव्य-पुण्य, द्रव्य-पाप, द्रव्य-संवर, द्रव्य-निर्जरा, द्रव्य-मोक्ष आदि कर्म की अवस्थाओं का वर्णन है। इसमें नौ अधिकार हैं; जिनका संक्षिप्त सार इसप्रकार है—

१.प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार में मंगलाचरण पूर्वक ८६ गाथाओं द्वारा कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतिओं के संख्या, नाम, प्रकृति-विशेष के कार्य, संहननानुसार उत्पत्ति-स्थान, घाति-अघाति, पुण्य-पाप, विपाक आदि की अपेक्षा कर्म के भेद; चार निक्षेपों द्वारा कर्म का कथन तथा प्रत्येक के नो कर्मों का कथन किया गया है।

२.बंधोदय सत्त्व अधिकार में ८७ से ३५७ पर्यंत २७१ गाथाओं द्वारा बंध के भेद, गुणस्थान-मार्गणास्थान की अपेक्षा बंध-त्रिभंगी, उदय-त्रिभंगी, उदीरणा-त्रिभंगी, सत्त्व-त्रिभंगी आदि का वर्णन है।

३.सत्त्वस्थानभंग अधिकार में ३५८ से ३९७ पर्यंत ४० गाथाओं द्वारा सत्त्व की अपेक्षा कर्म-प्रकृतिओं के सत्त्व-स्थान और भेदों के भंगों का तथा गुणस्थान के अनुसार सत्त्व-स्थान की विविधता का

वर्णन किया गया है।

४.त्रिचूलिका अधिकार में ३९८ से ४५० पर्यंत ५३ गाथाओं द्वारा तीन चूलिकाओं का वर्णन है। १० गाथाओं वाली, प्रथम नव प्रश्न चूलिका में उदय-व्युच्छित्ति के पूर्व, बंध-व्युच्छिन्न-प्रकृतिआँ; उदय-व्युच्छित्ति के पश्चात्, बंध-व्युच्छिन्न-प्रकृतिआँ; उदय-व्युच्छित्ति के साथ, बंध-व्युच्छित्ति को प्राप्त होने वाली प्रकृतिआँ; स्वोदय-बंधी, परोदय-बंधी, स्वपरोदय-बंधी प्रकृतिआँ; सान्तर, निरंतर, उभय-बंधी प्रकृतिआँ—इन नव विषयों का वर्णन है।

अट्ठाईस गाथाओं वाली, द्वितीय पंचभागहार चूलिका में उद्वेलन, विध्यात, अध:प्रवृत्त, गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम—इन पाँच भागहारों तथा संक्रमणों का वर्णन है।

१५ गाथाओं वाली, तृतीय दश करण चूलिका में गुणस्थान के अनुसार बंध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति, निकाचित रूप दश करणों का वर्णन है।

५.स्थान समुत्कीर्तन अधिकार में ४५१ से ७८४ पर्यन्त ३३४ गाथाओं द्वारा कर्म-प्रकृति-संख्या-सहित गुणस्थान के अनुसार बंध, उदय, सत्त्व का वर्णन है। उपयोग, योग, संयम, लेश्या और सम्यक्त्व की अपेक्षा मोहनीय-कर्म के उदय-सत्त्व स्थानों का; नामकर्म के ४१ जीव-पदों का तथा बंध, उदय, सत्त्व के त्रि-संयोगी भंगों का भी इसमें वर्णन है।

६.प्रत्यय अधिकार में ७८५ से ८१० पर्यन्त २६ गाथाओं द्वारा गुणस्थान के अनुसार मूल-उत्तर प्रत्ययों का, कर्म-बंध के कारणभूत आत्म-परिणामों का और ज्ञानावरण आदि कर्मों के विशेष-प्रत्ययों का वर्णन किया गया है।

७.भाव चूलिका अधिकार में ८११ से ८९५ पर्यन्त ८५ गाथाओं द्वारा गुणस्थान के अनुसार भावों के मूल-उत्तर भेदों संबंधी स्थानभंग-पदभंग का, एकांत नियतिवाद आदि ३६३ मिथ्या-मतों का वर्णन है।

८.त्रिकरण चूलिका अधिकार में ८९६ से ९१२ पर्यन्त १७ गाथाओं द्वारा अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के स्वरूप, काल आदि का वर्णन है।

९.कर्म-स्थिति रचना अधिकार में ९१३ से ९६४ पर्यन्त ५२ गाथाओं

द्वारा कर्म-स्थिति-रचना, अंक-संदृष्टि, अर्थ-संदृष्टि, त्रिकोण यंत्र-रचना, स्थिति-बंध के भेद और अध्यवसाय-स्थानों का वर्णन है।

अन्त में आठ गाथाओं द्वारा प्रशस्ति लिखते हुए ग्रंथकर्ता आचार्य श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने ग्रंथ समाप्त किया है।

इसप्रकार षट्खण्डागम का साररूप यह गोम्मटसार ग्रंथ, प्रथम श्रुत-स्कंध रूप आगम-ग्रंथों की विषय-वस्तु को हृदयस्थ करने के लिए प्रवेश-द्वार है।

प्रश्न ३ : गोम्मटसार ग्रंथ के मुख्य अधिकारों का नाम 'काण्ड' परक अर्थात् जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड—ऐसा क्यों रखा गया है ?

उत्तर : इसके मुख्य अधिकारों के नाम 'काण्ड' परक रखने के कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

१.काण्ड का अर्थ है 'समूह'। इन मुख्य अधिकारों में जीव-समूहों और कर्म-समूहों की चर्चा होने से क्रमश: इनका नाम जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड रखा गया है।

२.काण्ड का अर्थ, विकृति/उद्दण्डता/ऊधमबाजी/उच्छृंखलता/स्वच्छंदता आदि भी है। प्रथम मुख्य अधिकार में जीव की विकृतिओं आदि का तथा द्वितीय मुख्य अधिकार में जीव की उन विकृतिओं आदि का निमित्त पाकर होनेवाली कर्मों की बंध आदि विकृतिओं का वर्णन होने से इनके नाम क्रमश: जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड हैं।

३.काण्ड का अर्थ जोड़नेवाला भी है। ये दोनों अधिकार जीव को अपने स्वभाव से जोड़ने में निमित्तभूत हैं। इनके अध्ययन से जीव अपनी विकृतिओं और उनके फल का ज्ञान कर उनसे विरक्त हो अपने शाश्वत शुद्ध ज्ञानानंद स्वभाव से जुड़ जाता है अर्थात् ज्ञानानंद-स्वभावी अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसमें ही सतत संतुष्ट रहने का पुरुषार्थ करता है; अत: इनका नाम 'काण्ड'परक है।

इसी में दूसरा तथ्य यह भी है कि आगम, अध्यात्म का मूल आधार है। आगम परक इन दोनों अधिकारों के अध्ययन द्वारा हम, अध्यात्म से जुड़ जाते हैं; अत: इनका नाम काण्ड-परक रखा गया है।

४.काण्ड का अर्थ बीज भी है। इन दोनों अधिकारों का अध्ययन

सम्यक् रत्नत्रय की प्रगटता के लिए बीजभूत होने से इनका नाम काण्ड-परक है।

इत्यादि अनेकानेक कारणों से इन दोनों मुख्य अधिकारों का नाम 'काण्ड'परक अर्थात् जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड है।

प्रश्न ४ : मंगलाचरण-परक गाथा का अर्थ स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : मंगलाचरण-परक वह गाथा इसप्रकार है—

पणमिय सिरसा णेमिं, गुणरयणविभूसणं महावीरं।
सम्मत्त-रयण-णिलयं, पयडि-समुक्कित्तणं वोच्छं ।।१।।

हिन्दी पद्य : ***प्रणाम करता शीश नमाकर, नेमी गुणमय रत्नों से।***
वीर छंद : ***भूषित महावीर सम्यक् रत्नत्रयमय के निलयों से।।***
प्रकृति का सम्यक् उत्कीर्तन करने वाला यह अधिकार।
कहता हूँ मैं सुनो भव्य जन भाव समझ होओ भव-पार।।१।।

शब्दश: अर्थ : **पणमिय**=प्रणाम कर, **सिरसा**=शिर से/शीश झुकाकर, **णेमिं**=नेमिनाथ भगवान को/धर्म-चक्र की धुरी स्वरूप, **गुणरयणविभूसणं**=ज्ञानादि गुणरूपी रत्नों से विभूषित, **महावीरं**= महान वीर/महा+वि+ई+र=महान विशिष्ट लक्ष्मी को देने वाले महावीर को/महान २४ तीर्थंकर भगवान को;

''कटपयपुरस्थवर्णै-र्द्विनवपञ्चाष्टकल्पितैः क्रमशः।
स्वरञ्जनशून्यं सङ्ख्या मात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम्।।''

इसके अनुसार **'वीर'** का 'व' अक्षर ४ का और 'र' अक्षर २ का द्योतक है। 'अंकानां वामतो गतिः—अंकों की विपरीत गति होती है'—इस सूत्रानुसार ४२ का विपरीत २४ हुआ। इसप्रकार वीर पद, २४ का सूचक है। **सम्मत्तरयणणिलयं**=सम्यक्त्वरूपी रत्न के स्थानभूत, **पयडि**=प्रकृति/स्वभाव, **समुक्कित्तणं**=सम्+उत्+कीर्तन= सम्यक् रूप में उत्कृष्ट रूप से कथन, **वोच्छं**=करूँगा।।१।।

अन्वय : गुणरयणविभूसणं महावीरं सम्मत्तरयणणिलयं णेमिं सिरसा पणमिय पयडि-समुक्कित्तणं वोच्छं।

सरलार्थ : टीकाकारों ने प्रस्तुत गाथा के अनेकों अर्थ किए हैं। हम यहाँ उनमें से मात्र ४ प्रमुख अर्थ देखते हैं—

१.नेमिनाथ भगवान को नमस्कार-परक : गुणरूपी रत्नों से

विभूषित, महान वीर अथवा महान लक्ष्मी को देनेवाले, सम्यक्त्वरूपी रत्नों के स्थानभूत नेमिनाथ भगवान को शिर झुकाकर नमस्कार करके प्रकृति समुत्कीर्तन को कहूँगा।

२.भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार-परक : नेमि/धर्म-चक्र की धुरी स्वरूप, गुणरूपी रत्नों से विभूषित, सम्यक्त्वरूपी रत्नों के स्थान महावीर भगवान को शिर झुकाकर नमस्कार करके प्रकृति समुत्कीर्तन को कहूँगा।

३.२४ तीर्थंकर भगवान को नमस्कार-परक : नेमि/धर्म-चक्र की धुरी स्वरूप, गुणरूपी रत्नों से विभूषित, महान, सम्यक्त्वरूपी रत्नों के स्थान २४ तीर्थंकर भगवान को शिर झुकाकर नमस्कार कर प्रकृति समुत्कीर्तन को कहूँगा।

४.जिनवाणी को नमस्कार-परक : (पंचम-काल में) धर्मरूपी चक्र की धुरी स्वरूप, स्याद्वाद आदि गुणरूपी रत्नों से विभूषित, महान विशिष्ट अनन्त चतुष्टयरूपी लक्ष्मी को देनेवाली/प्रगट करने का मार्ग/उपाय बतानेवाली, सम्यक्त्वरूपी रत्नों की स्थान, प्रकृति/वस्तु के स्वभाव का भली-भाँति उत्कृष्ट रूप से कथन करनेवाली जिनवाणी को नमस्कार करके प्रकृति/कर्म का समुत्कीर्तन करूँगा।

इसप्रकार विशेषण-विशेष्य में परिवर्तन से इस गाथा के विविध अर्थ फलित होते हैं।

प्रश्न ५ : नेमिनाथ भगवान को नमस्कार करने का क्या कारण है ?

उत्तर : भगवान महावीर स्वामी इस युग के अन्तिम तीर्थंकर होने से, अभी उनका शासन प्रचलित होने के कारण, उन्हें नमस्कार करना तो उचित ही है। चौबीस तीर्थंकर भगवान भी शासन-नायक होने से, उन्हें सामूहिक रूप में नमस्कार करना भी उचित है; परन्तु यहाँ २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान को पृथक् से नमस्कार किया गया है। जिसके कुछ कारण निम्नलिखित हैं—

१.प्रस्तुत ग्रंथ का निर्माण-कार्य नेमिनाथ जिनालय में बैठकर किया गया होने से, उन्हें नमस्कार किया गया है।

२.प्रस्तुत ग्रंथ षट्खण्डागम का सार है। षट्खण्डागम ग्रंथ की विषय-वस्तु का ज्ञान, आचार्य पुष्पदंत-भूतबली को आचार्य धरसेन ने

गिरनार-गिरि की गुफाओं में दिया था। गिरि-गिरनार, भगवान नेमिनाथ के दीक्षा, साधना, केवलज्ञान और मोक्ष-कल्याणक से गौरवान्वित है; अत: षट्खण्डागम के सारभूत इस गोम्मटसार में भगवान नेमिनाथ को नमस्कार किया गया है।

३.ग्रंथकर्ता के नाम का साम्य भी इसका एक कारण हो सकता है।

इत्यादि कारणों से इसमें भगवान नेमिनाथ को नमस्कार किया है।

प्रश्न ६ : गाथा २ का अर्थ स्पष्ट करते हुए जीव और कर्म के अनादि संबंध और स्वयं-सिद्ध अस्तित्व को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उन्हें स्पष्ट करने वाली वह गाथा इसप्रकार है—

पयडी सील सहावो, जीवंगाणं अणाइसंबंधो।
कणयोवले मलं वा, ताणत्थित्तं सयं सिद्धं।।२।।

प्रकृति शील स्वभाव सभी एकार्थ जीव अरु कर्मों का।
है अनादि संबंध स्वर्ण-पाषाण किट्टिमा के जैसा।।
पर उनकी सत्ता स्वतंत्र है सिद्ध स्वयं से शाश्वत ही।
जीव कभी न कर्म हुआ न कर्म हुआ है जीव कभी।।२।।

शब्दश: अर्थ : **पयडी**=प्रकृति, **सील**=शील, **सहावो**=स्वभाव, **जीवंगाणं/जीवं+अंगाणं**=जानने-देखनेवाला पदार्थ जीव+अंग/द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरूप पौद्‌गलिक कर्म, **अणाइसंबंधो**=अनादि संबंध, **कणयोवले/कणय+उवले**=कनक/सुवर्ण+पत्थर में; **मलं**=मल, **वा**=समान; **ताणत्थित्तं/ताण+अत्थित्तं**=उनका+अस्तित्व, **सयं सिद्धं**=अपने आप सिद्ध।।२।।

अन्वय : पयडी सील सहावो कणय-उवले मलं वा जीव-अंगाणं अणाइसंबंधो ताण अत्थित्तं सयं सिद्धं।

सरलार्थ : प्रकृति, शील और स्वभाव, एकार्थवाची/पर्यायवाची हैं। जैसे—सुवर्ण-पाषाण में किट्ट-कालिमा अनादि से मिली हुई है; उसीप्रकार जीव और शरीर/कर्म का अनादि से संबंध है। (इस स्थिति में भी) उन दोनों का अस्तित्व स्वयं से सिद्ध है।

स्पष्टीकरण : किसी विशिष्ट कारण के विना घटित होनेवाली घटनाओं को स्वभाव कहते हैं। जीव और कर्म का संबंध किसी विशिष्ट कारण के विना अनादि से ही चला आ रहा है। ऐसा नहीं है

कि पहले जीव, कर्मों से मुक्त, शुद्ध था; पश्चात् कर्म आकर उससे बँध गए अथवा पहले जीव, शुद्ध था; बाद में उसने रागादि विकारी भाव किए, जिससे कर्म बँध गए; अथवा कर्म ने उस शुद्ध जीव को रागादि भाव कराके बाँध लिया हो; वरन् स्थिति यह है कि अनादि से ही जीव, रागादि विकारी भावों रूप परिणमित हो रहा है और अनादि से ही कर्म का बन्ध भी चला आ रहा है; सुवर्ण-पत्थर में विद्यमान किट्ट-कालिमा के समान।

यद्यपि पूर्व-बद्ध मोहनीय आदि कर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव में रागादि विकारी भाव होते हैं तथा जीव के इन रागादि विकारी भावों का निमित्त पाकर मोहनीय आदि नवीन कर्म बँधते हैं; अत: इन दोनों में इतरेतराश्रय संबंध नहीं है; इसी कारण इतरेतराश्रय दोष भी नहीं आता है; तथापि यह परम्परा पहले-पीछे के भेद-विना ही अनादि-काल से चली आ रही है; अत: इन दोनों का संबंध, अनादि-कालीन है।

आचार्य-कल्प पण्डित-प्रवर टोडरमलजी अपने मोक्ष-मार्ग-प्रकाशक ग्रंथ के दूसरे अधिकार में इसे इसप्रकार व्यक्त करते हैं—''जैसे मेरुगिरि आदि अकृत्रिम स्कन्धों में अनन्त पुद्गल परमाणु अनादि से एक-बन्धरूप हैं; फिर उनमें से कितने ही परमाणु भिन्न होते हैं, कितने ही नए मिलते हैं—इसप्रकार बिछुड़ना-मिलना होता रहता है; उसीप्रकार इस संसार में एक जीव द्रव्य और अनन्त कर्म परमाणुओं का अनादि से एक बंधन हो रहा है; फिर उनमें नए कर्मों का आना और पुरानों का बिछुड़ना—इसप्रकार मिलना-बिछुड़ना होता रहता है।.....

आगम में तो ऐसा कहा ही है, युक्ति से भी ऐसा ही सिद्ध होता है कि यदि कर्म के निमित्त-विना, पहले जीव को रागादि कहे जाएँ तो रागादि, जीव का स्वभाव हो जाएगा; क्योंकि जो पर-निमित्त के विना हो, उसे ही स्वभाव कहते हैं।''

इस अनादि-कालीन संबंध की स्थिति में भी दोनों का अस्तित्व स्वयं से ही सिद्ध है, एक-दूसरे के कारण नहीं है। जीव अपने ज्ञानादि अनन्त-गुणों के कारण इस संबंध में भी सदा चेतन ही रहा है। उसका एक भी प्रदेश, एक भी पर्याय, एक भी भाव/गुण, कर्मरूप अचेतन

नहीं हो सका है। अहं/मैं—ऐसी प्रतीति रूप में इसका अस्तित्व स्वत:-सिद्ध है।

कर्म भी अपने स्पर्श आदि अनन्त गुणों के कारण सदा अचेतन/जड़ ही रहा है। उसका एक भी परमाणु, एक भी गुण, एक भी पर्याय, कभी भी जीवरूप/चेतन नहीं बन सकी। संसार में दिखाई देनेवालीं धनी, गरीब, कुरूप, सुरूप आदि विचित्रताओं से इनका अस्तित्व भी स्वत:-सिद्ध है।

जैसे—मूल ही से जल-दूध, सोना-किट्टिक, तुष-कण, तेल-तिल आदि पृथक्-पृथक् स्वभावी होने पर भी अनादि से ही एक-दूसरे में मिले हुए हैं; उनके मध्य पारस्परिक घनिष्ठतम निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी है; उसीप्रकार जीव और कर्म, पृथक् स्वभावी होने पर भी अनादि से ही पारस्परिक निमित्त-नैमित्तिक संबंधरूप में घनिष्ठता पूर्वक मिले हुए हैं। चार-गति, चौरासी लाख योनिओं की विविधता/विचित्रता इनके संयोग की सिद्धि के लिए पर्याप्त है। इतना सब होने पर भी दोनों ही स्वयं में परिपूर्ण, पर से पूर्ण निरपेक्ष, स्वयं से ही सिद्ध हैं; स्वयं पृथक्-पृथक् सत्ता-सम्पन्न हैं।

प्रश्न ७ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ लाभ निम्नलिखित हैं—

१.जीव और कर्म का ऐसा व्यवस्थित, सूक्ष्म, गहनतम, अनादि-कालीन निमित्त-नैमित्तिक संबंध; एक-मात्र वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान द्वारा ही ज्ञात होने से एक-मात्र उनकी ही वाणी में इसका व्यवस्थित निरूपण है—यह समझ में आ जाने पर एक-मात्र वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु को ही पूज्य, अपना आदर्श, मार्ग-दर्शक मानने का भाव दृढ़ होता है। अन्य रागी-द्वेषी देवी-देवताओं का आकर्षण नष्ट हो जाता है, जिससे गृहीत-मिथ्यात्व छूट जाता है।

२.संसार दशा में होनेवाली समस्त विविधताओं का नियामक निमित्त कारण, कर्म का उदय है; अन्य कोई विश्व-व्यापी महेश्वर आदि इस सृष्टि का कर्ता-धर्ता नहीं है—यह समझ में आ जाने से भी गृहीत-मिथ्यात्वरूपी महा-पाप से बच जाते हैं।

३.वर्तमान में जो भी परिस्थितिआँ या परिणाम बन रहे हैं; वे सभी हमारे

संयोग में होने पर भी कर्म-जनित होने के कारण, वास्तव में कर्म के हैं; मेरे नहीं—इसप्रकार उन परिस्थितिओं, परिणामों से भेद-ज्ञानकर, उन सभी से भिन्न अपने पूर्णतया पर-निरपेक्ष, अभेद, ज्ञायक स्वभाव में लीनता का पुरुषार्थ जागृत होता है; जिससे अगृहीत-मिथ्यात्व का भी अभाव होकर जीवन अतींद्रिय आनन्दमय हो जाता है।

४.अनादि-कालीन घनिष्ठतम संबंध की स्थिति में भी जब एक दूसरे रूप किंचित् मात्र भी नहीं हुए, तब ऐसा कैसे माना जाए कि वास्तव में जीव और कर्म बँधे हैं?—यह समझ में आ जाने पर स्वभाव से ही परिपूर्ण, निर्बंध, नित्य, सहज, मुक्त-तत्त्वरूप निज ज्ञानानन्दमई भगवान आत्मा के आश्रय से पर्याय में भी इस क्षणिक बंधन से सहज मुक्त होकर परिपूर्ण मुक्त दशा की प्राप्ति हो जाती है।

५.कर्म का संबंध अनादि से होने पर भी वास्तव में हम कर्माधीन नहीं हैं। बुखार/शारीरिक तापमान को बतानेवाले थर्मामीटर के समान ये कर्म तो हमारे अपराधों को जानने के मात्र माध्यम हैं—यह समझ में आ जाने पर जब हम अपने अनादि-अनंत निरपराध स्वभाव के अवलम्बन से अपनी अपराधी वृत्तिआँ नष्ट करते हैं; तो कर्मों का संबंध भी सदा-सदा के लिए नष्ट हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ८: कर्म-बंध के मूल-कारण के संदर्भ में तीसरी गाथा लिखिए?

उत्तर : उसे स्पष्ट करने वाली वह गाथा इसप्रकार है—

देहोदयेण सहिओ, जीवो आहरदि कम्म-णोकम्मं।
पडिसमयं सव्वंगं, तत्तायस-पिंडओव्व जलं।।३।।

देह उदय से सहित जीव, प्रति-समय कर्म नोकर्मों को।
करता ग्रहण सभी अंगों से, जैसे तप्त लोह जल को।।३।।

शब्दश: अर्थ : **देह+उदयेण**=देह/शरीर नामक नाम-कर्म के उदय से, **सहिओ**=सहित, **जीवो**=जीव, **आहरदि**=ग्रहण करता है, **कम्म**=कर्म, **णोकम्मं**=नोकर्म को, **पडिसमयं**=प्रति-समय, **सव्वंगं**=सर्वांग/सभी ओर से, **तत्त+आयस**=तपे हुए लोहे के, **पिंड**=गोले के, **ओव्व**=समान, **जलं**=जल को।।३।।

अन्वय : तत्त-आयस-पिंड-जलं पडिसमयं सव्वंगं आहरदि ओव्व

देहोदयेण सहिओ जीवो पडिसमयं सव्वंगं कम्मणोकम्मं आहरदि।

सरलार्थ : जैसे तपे हुए लोहे के गोले को जल में डालने पर वह प्रति-समय सब ओर से जल ग्रहण करता है; उसीप्रकार शरीर नामक नाम-कर्म के उदय से सहित (योगवान) जीव प्रति-समय सब ओर से कर्म-नोकर्म को ग्रहण करता है (ज्ञानावरणादि रूप होने-योग्य कार्मण-वर्गणाओं का ग्रहण, कर्म का ग्रहण है तथा औदारिक आदि शरीररूप होने-योग्य आहार-वर्गणाओं का ग्रहण, नोकर्म का ग्रहण है।)

स्पष्टीकरण : जब यह जीव, देह के उदय से सहित होता है अर्थात् शरीर से जुड़ता है; शरीर के प्रति एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि बुद्धि करता है; शरीर मैं हूँ, शरीर मेरा है, मैं शरीर को स्वस्थ रखता हूँ, मैं इससे आत्म-साधना करता हूँ—इत्यादि रूप में शरीर को अपना मानता है, उसके प्रति राग-द्वेष करता है, तो अन्य कुछ शुभाशुभ कार्य करते या नहीं करते हुए भी प्रति-समय सब ओर से/लोकाकाश-प्रमाण अपने असंख्यात प्रदेशों से कर्म-नोकर्म को ग्रहण करता है; ज्ञानावरणादि कर्मों को बाँधता है और नोकर्मरूप आहार-वर्गणा से शरीरादि को पुष्ट करता है।

इसप्रकार इसमें कर्म-बन्ध के मूलकारण को स्पष्ट किया है।

प्रश्न ९ : कर्म-नोकर्म का स्वरूप स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : वैसे तो कर्म शब्द अनेकानेक अर्थों में प्रयुक्त होता है; जैसे—कार्य, कर्म-कारक, क्रिया-कर्म, कर्म-चेतना, द्रव्यकर्म, भावकर्म इत्यादि; परन्तु इनमें से यहाँ ज्ञानावरणादि द्रव्य-भाव कर्मों को ही कर्म शब्द से ग्रहण किया गया है। जीव के मोहादि विकारी परिणामों का निमित्त पाकर कार्मण-वर्गणा के द्रव्य-भावमय ज्ञानावरणादिरूप परिणमन को कर्म कहते हैं तथा स्वयं कर्मरूप नहीं होने पर भी जो कर्म के बन्ध या उदय में निमित्त होते हैं, उन शरीरादि पदार्थों को नोकर्म कहते हैं।

प्रश्न १० : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.कर्म-बन्ध के मूल-कारण के संदर्भ में हम अनादि से ही अज्ञानी हैं; अत: न जाने किन-किन को उसका कारण मान बैठते हैं। अधिक

ज्ञान नहीं होना, व्रत-शील-संयमादि न कर पाना, दान-पुण्य आदि न कर पाना, त्याग-तपश्चरण आदि न कर पाना, तीर्थ-यात्रा आदि न कर पाना इत्यादि अनेकानेक कार्यों को कर्म-बन्ध का कारण मानने से हम सतत इन्हें ही हटाने-मिलाने में लगे रहते हैं। यदि कदाचित् इनमें हमें सफलता मिल गई, तो हम मान लेते हैं कि 'अब हम कर्मों से मुक्त हो जाएंगे'—ऐसा कर सन्तुष्ट भी हो जाते हैं; परन्तु कर्मों से मुक्ति नहीं मिल पाती है।

इस गाथा के माध्यम से कर्म-बन्ध का मूल-कारण 'शरीर से सहित होना/तन्मय होना' समझ में आ जाने पर हमारी उपर्युक्त विपरीत मान्यताएँ नष्ट हो जाती हैं तथा तत्त्वाभ्यास के बल पर भेद-विज्ञान के माध्यम से हम अपने में/आत्मा में तन्मय होकर कर्म-बन्ध नष्ट करने की सही दिशा में पुरुषार्थ करते हैं; जिसका फल; अतींद्रिय आनन्दमय मुक्त-दशा की प्राप्ति है।

२.'कर्म, प्रति-समय बँधते हैं'—यह समझ में आ जाने पर हम प्रति-समय स्व-पर भेद-विज्ञान की दिशा में सजग रहने का पुरुषार्थ करने लगते हैं।

३.'कर्म, सर्वांग से बँधते हैं'—यह समझ में आ जाने पर हम मात्र किसी अंग विशेष से ही परलक्ष्यी वृत्तिरूप विकारी भावों से नहीं बचेंगे; वरन् आत्मा में ही विकारी-वृत्ति उत्पन्न न हो—इस दिशा में अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करेंगे।

४.शरीरादि पर-पदार्थों से सतत भेद-विज्ञान चलते रहने के कारण अन्याय, अनीति, अभक्ष्य-भक्षण आदि असदाचारी वृत्तिआँ, मिथ्यात्व नष्ट होकर जीवन शुद्ध, सात्त्विक, सुख, शान्तिमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ११ : प्रतिसमय बँधनेवाले कर्मों की संख्या बताते हुए चौथी गाथा को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उसे स्पष्ट करने वाली वह गाथा इसप्रकार है—

सिद्धाणंतिम-भागं अभव्व-सिद्धादणंत-गुणमेव।
समयपबद्धं बंधदि, जोग-वसादो दु विसरित्थं।।४।।
सिद्धों के अनंतवें भाग बराबर बँधते अधिकाधिक।
अभव्यसिद्ध जीव से नंतगुणे बँधते हैं कम से कम।।
एक समय में बँधते इतने कहलाते हैं समयप्रबद्ध।
मन वच काय योग के कारण हो जाती संख्या विसदृश।।४।।

शब्दश: अर्थ : **सिद्ध+अणंतिम भागं**=सिद्ध-राशि के अनंतवें भाग, **अभव्वसिद्धात्+अणंत+गुणं+एव**=अभव्य-सिद्ध-राशि से अनंत गुणे ही, **समयपबद्धं**=समय-प्रबद्ध (एक समय में बँधनेवाले कर्मों की सांकेतिक संज्ञा), **बंधदि**=बँधते हैं, **जोगवसादो**=मन, वचन, कायमय योगों की हीनाधिकता से, **दु**=परन्तु, **विसरित्थं**=विसदृश ।।४।।

अन्वय : सिद्ध अणंतिमभागं अभव्वसिद्धात् अणंत-गुणं एव समयपबद्धं बंधदि दु जोगवसादो विसरित्थं।

सरलार्थ : इस जीव के साथ (अनंतानंत-प्रमाण अक्षय-अनन्त) सिद्ध-राशि के अनंतवें भाग, (जघन्य युक्तानन्त-प्रमाण सक्षय-अनन्त) अभव्य-राशि से अनन्त गुणे समय-प्रबद्ध बँधते हैं; परन्तु मन, वचन, काय-योग की हीनाधिकता से हीनाधिक परमाणु भी बँध जाते हैं।

स्पष्टीकरण : **'समये प्रबध्यते इति समयप्रबद्ध:—**प्रति-समय प्रकृष्ट रूप से बँधनेवाले कर्म को समय-प्रबद्ध कहते हैं'; समय=काल का सबसे छोटा अविभागी अंश, प्र=प्रकृष्टरूप से, बद्ध=बँधनेवाले।

प्रकृष्ट-बंध : जिस बंध के साथ जीव का घनिष्ठतम निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता है, उसे प्रकृष्ट बंध कहते हैं।

योगों की हीनाधिकता : एकेंद्रिय जीव के मात्र एक काय योग है, दो इंद्रिय से असैनी पंचेंद्रिय पर्यंत जीवों के काय और वचन—ये दो योग हैं तथा सैनी पंचेंद्रिय जीवों के तीनों योग हैं। इस हीनाधिकता के अनुसार कर्म-बंध में भी हीनाधिकता होती है।

प्रश्न १२ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.सिद्ध जीव-राशि अनन्त है अर्थात् सिद्ध होने का मार्ग/सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्ष-मार्ग अनन्त जीवों के द्वारा अनुभूत प्रयोगात्मक मार्ग है—यह समझ में आ जाने पर निश्शंक होकर उस मार्ग/उपाय को अपनाने से/अपने आत्मा को अपनत्व रूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिर होने से हमारी पर्याय में भी

सिद्ध दशा प्रगट हो जाती है।
२.अभव्य जीव-राशि अनन्त होने पर भी समस्त जीव-राशि की तुलना में अत्यल्प है; अत: किन्हीं विशिष्ट परिणामों या परिस्थितिओं में उलझा हुआ देखकर स्वयं को या अन्य को अभव्य मानकर पुरुषार्थ शिथिल तथा तिरस्कृत करने का परिणाम नहीं करना, स्वयं को या अन्य को दीन-हीन-पामर माननेरूप अपराध नहीं करना; वरन् उन सभी परिस्थितिओं-परिणामों से भेदविज्ञान रखते हुए सतत अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ की दिशा में जागरुक रहने का प्रयास करना।
३.अभव्यसिद्ध अर्थात् अभव्यपना स्वयं से ही सिद्ध है। यह किसी कर्म के उदय या अपने किसी अपराध के फल में मिलनेवाला स्वभाव नहीं है; वरन् एक पारिणामिक भाव है। भव्यत्व के समान, अभव्यत्व भी जीव की एक सहज योग्यता है—ऐसा जानकर उसके प्रति तुच्छता से देखने का भाव नष्ट हो जाता है। इसी के बल पर दीनता, हीनता या बड़प्पनरूप परिणाम भी समाप्त होकर प्रत्येक परिस्थिति को सहज समता भाव पूर्वक स्वीकार करने का भाव जागृत होता है।
४.अपनी एक समय की अपराधी वृत्ति का निमित्त पाकर अनंत परमाणुमय कार्मण-वर्गणा, कर्मरूप परिणमित होती है अर्थात् इस अपराधी को बाँधने के लिए अनंत परमाणु चाहिए। जब सशंक, भयाक्रांत, अपराधी वृत्ति में भी यह इतना सामर्थ्य-सम्पन्न है; तब फिर निश्शंक, निर्भय, निरपराधी वृत्ति में कितना सामर्थ्य-सम्पन्न होगा?—इसप्रकार इस प्रकरण से स्वभाव की अनन्त सामर्थ्य सिद्ध होती है। जिसके आश्रय से अन्तरोन्मुखी वृत्ति जागृत कर स्वरूप-स्थिरता के बल पर जीवन सहज अतींद्रिय आनन्दमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १३ : पाँचवीं गाथा को स्पष्ट करते हुए डेढ़ गुण-हानि आयाम से गुणित समय-प्रबद्ध की सत्ता में स्थिति को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : वह गाथा इसप्रकार है—

जीरदि समयपबद्धं, पओगदो णेगसमयबद्धं वा।
गुण-हाणीण-दिवड्ढं, समयपबद्धं हवे सत्तं।।५।।

जितने बँधते उतनी संख्या में ही खिरते समयप्रबद्ध।
कभी-कभी तप आदि द्वारा खिरें अनेकों समयप्रबद्ध।।
फिर भी गुण हानि से डेढ़ गुणित संख्या में रहते हैं।
समयप्रबद्ध सदा सत्ता में मोक्ष समय में खिरते हैं।।५।।

शब्दश: अर्थ : **जीरदि**=खिरते हैं, **समयपबद्धं**=समय-प्रबद्ध (एक समय में बँधनेवाले कर्मों की संख्या के बराबर), **पओगदो**=प्रयोग से/तपश्चरणादि विशिष्ट परिणामों से, **ण+एगसमयबद्धं**=एक समय-प्रबद्ध नहीं अर्थात् अनेक समय-प्रबद्ध, वा=अथवा, **गुणहाणीण**= गुण-हानि/गुणाकार क्रम से हानि/हीन-हीन होनेवाली संख्या के, **दिवड्ढं**=डेढ़ गुणे, **समयपबद्धं**=समय-प्रबद्ध, **हवे**=रहते हैं, **सत्तं**= सत्ता में ।।५।।

अन्वय : समयपबद्धं जीरदि वा पओगदो णेगसमयबद्धं जीरदि दिवड्ढं गुणहाणीण समयपबद्धं सत्तं हवे।

सरलार्थ : इस अनादि-कालीन संसार में स्थित जीव के प्रति-समय समय-प्रबद्ध प्रमाण (सिद्ध-राशि के अनंतवें भाग, अभव्य-राशि से अनंतगुणे प्रमाण) कर्म निर्जरित होते हैं/खिर जाते हैं; अथवा कभी-कभी प्रयोग से/तपश्चरणादि विशिष्ट परिणामों का निमित्त पाकर अनेक समय-प्रबद्ध प्रमाण भी खिर जाते हैं; तथा गुणाकार क्रम से हीन-हीन होनेवाली गुण-हानि के काल से डेढ़ गुणे अर्थात् डेढ़ गुण-हानि आयाम से गुणित समय-प्रबद्ध सत्ता में रहते हैं।

स्पष्टीकरण : प्रति-समय जितने कर्म बँधते हैं, उतने ही खिर जाते हैं; तथापि कुछ कम डेढ़ गुण-हानि आयाम से गुणित समय-प्रबद्ध सत्ता में विद्यमान रहते हैं।

शंका : जितने कर्म बँधते है, उतने ही खिर जाते हैं; तब फिर कुछ कम डेढ़ गुण-हानि आयाम से गुणित कर्म, सत्ता में कैसे बच जाते हैं?

समाधान : प्रतिसमय बँधनेवाले कर्म, अपना आबाधा-काल समाप्त होने के बाद क्रमश: निषेक-रचना के क्रमानुसार अपनी स्थिति पर्यंत खिरते रहने के कारण बँधने और खिरने वाले कर्मों की संख्या समान होने पर भी उसकी डेढ़ गुण-हानि आयाम से गुणित कर्म, सत्ता में सुरक्षित रहते हैं। इसे हम अत्यंत काल्पनिक उदाहरण द्वारा इसप्रकार

समझ सकते हैं। इससे अभी मात्र इतना ही समझना है कि जितने बँधते हैं, उतने ही खिर जाने पर भी डेड़ गुणे कैसे बच जाते हैं ? निषेक-रचना-क्रम आदि का विवेचन तो आगामी अधिकारों में स्वत: आ ही रहा है; अत: उन्हें वहीं समझेंगे। उदाहरण इसप्रकार है—

माना कि प्रति-समय बँधनेवाले समय-प्रबद्ध में कर्म-परमाणुओं की संख्या १०० है। उनका स्थिति-बंध, ६ समय तथा आबाधा-काल एक समय का है। गुण-हानि आयाम, एक समय है। आबाधा-काल पूर्णकर १०० कर्म-परमाणुओं वाले उस एक समय-प्रबद्ध को अपनी शेष स्थिति प्रमाण अर्थात् ५ समय पर्यंत निषेक-रचना-क्रम से खिरना है। इस स्थिति में उनका निषेक-रचना-क्रम ३०, २५, २०, १५, १० रूप में होगा। इसी समय अन्य समय-प्रबद्धों का भी आबाधा काल पूर्ण होता जाने से वे भी अपने निषेक-रचना-क्रम से इनके साथ खिरने लगते हैं। इस कारण एक समय में खिरनेवाली कर्म-परमाणुओं की वह संख्या, समय-प्रबद्ध-प्रमाण अर्थात् १०० हो जाती है तथा उसी समय उन समय-प्रबद्धों के शेष रहे कर्म-परमाणु, डेड़ गुणहानि आयाम से गुणित समय-प्रबद्ध-प्रमाण अर्थात् १५० कर्म, सत्ता में विद्यमान रहते हैं। इसे इसप्रकार से रेखांकित कर समझ सकते हैं—

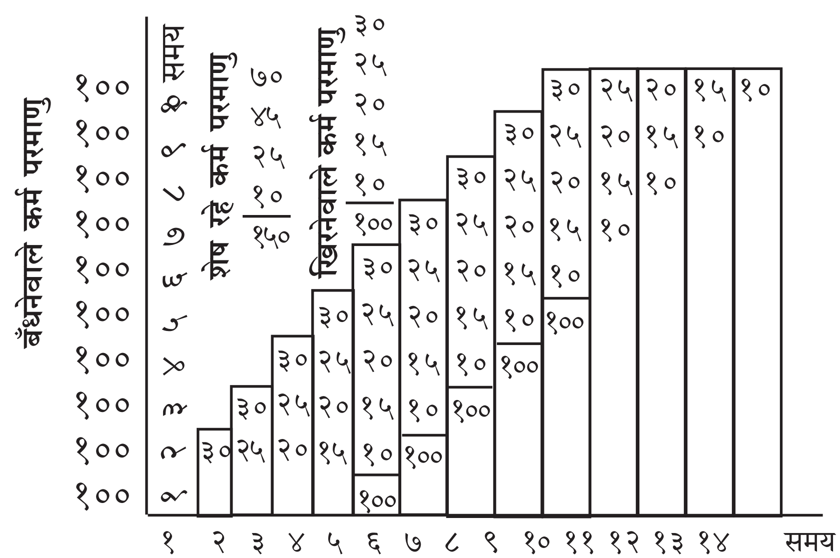

समय-प्रबद्ध १००; गुण-हानि आयाम १; स्थितिबंध ६ समय; आबाधा काल १ समय; निषेक-रचना-क्रम ३०, २५, २०, १५, १०; गुण-हानि आयाम का डेड़ गुना १.५; डेड़ गुण-हानि से गुणित समय-प्रबद्ध १५०।

प्रथम समय में मात्र ३० निषेक खिरने से १०० में से ३० कम हो जाने पर ७० शेष; द्वितीय समय में २५ खिर जाने से ३०+२५=५५ कम हो जाने पर ४५ शेष; तृतीय समय में २० खिर जाने से ३०+२५+२०=७५ कम हो जाने पर २५ शेष; चतुर्थ समय में १५ खिर जाने से ३०+२५+२०+१५=९० कम हो जाने पर १० शेष; पंचम समय में १० खिर जाने से ३०+२५+२०+१५+१०=१०० पूर्ण हो जाने पर शेष कुछ भी नहीं; तथापि उसी समय अन्य समय-प्रबद्धों के ७०+४५+२५+१०=१५० कर्म-परमाणु शेष हैं।

आबाधा-काल : अ+आ+बाधा; अ=नहीं, आ=समन्तात्/सब ओर से, बाधा=बाधा देना/उदय में आना अर्थात् जब तक कर्म उदय में नहीं आते हैं, तब तक का काल आबाधा-काल है। इसे सरल शब्दों में ऐसा कह सकते हैं कि कर्म-बंध के बाद, उदय में आने के मध्य का काल आबाधा-काल है। कर्म, बँध जाने के बाद कभी भी तत्काल उदय में नहीं आते हैं। वे कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक संख्यात वर्ष पर्यंत उदय में आए विना ही मात्र सत्ता में स्थित रहते हैं; यही उनका आबाधा-काल है। आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों में उदय की अपेक्षा अंत: कोड़ाकोड़ी सागर के स्थिति-बंध पर आबाधा काल अन्तर्मुहूर्त और एक कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति पर १०० वर्ष है। जैसे—७० कोड़ाकोड़ी सागर की स्थितिवाले मोहनीय कर्म का आबाधाकाल ७००० वर्ष है। इसी के अनुसार अन्य का भी समझ लेना चाहिए। इसकी विस्तृत चर्चा तो यथा-समय द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत होगी ही।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समयसार, आस्रव अधिकार, गाथा १६९वीं में आबाधा काल-सम्पन्न कर्मों को ''**पुढवीपिंडसमाणा—**मिट्टी के ढेले के समान शक्ति-हीन'' कहा है।

निषेक-रचना-क्रम : एक समय में खिरनेवाले कर्मों को निषेक कहते हैं। एक समय में एक साथ बँधे हुए कर्म, आबाधा-काल के बाद आबाधा-काल कम अपनी स्थिति पर्यंत क्रमश: अधिकता से हीनता की ओर की प्रक्रिया से खिरते हैं; इसी प्रक्रिया को निषेक-रचना-क्रम कहते हैं।

खिरते हैं/निर्जीर्ण होते हैं : ''पक्के फलम्हि पडिए''—समयसार, आस्रव अधिकार, गाथा १६८वीं के भावानुसार जैसे पका हुआ फल डाली से टूटने पर पुन: उसी रूप में डाली में नहीं लगता है; उसके परमाणु अन्य रूप में परिवर्तित हो जाते हैं; उस डाली के साथ उसका संबंध नहीं रहता है; उसीप्रकार उदय में आने के बाद खिर जाने पर उस कर्म का उस जीव के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं रहता है; अर्थात् उदय में आने के बाद वे कर्म अब, उस कर्मरूप नहीं रहेंगे, पुद्गल परमाणुरूप से विद्यमान रहते हुए वे, कार्मण-वर्गणा या अन्य वर्गणारूप हो जाएंगे; इसे ही कर्मों का खिरना या निर्जीर्ण होना कहते हैं।

णेगसमयबद्धं वा : अनेक समय-प्रबद्ध-प्रमाण भी खिर जाते हैं। अपना-अपना आबाधा-काल पूरा होने के बाद शेष स्थिति प्रमाण कर्म खिरते रहते हैं। इसी के मध्य में अन्य-अन्य समय में बँधे हुए कर्मों की आबाधा पूर्ण होते जाने पर, वे भी इसी के साथ खिरने लगते हैं। उसी समय जीव के परिणामों का निमित्त पाकर अन्य कर्मों की स्थिति में अपकर्षण हो जाने पर वे भी अपने समयानुसार इन्हीं के साथ उदय में आकर खिरने लगते हैं—इसप्रकार अनेक समय-प्रबद्ध भी एक साथ खिरते रहते हैं।

प्रश्न १४ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.एक समय-प्रबद्ध-प्रमाण कर्म, प्रति-समय बँधते हैं और इतने ही प्रति-समय खिर जाते हैं, जिससे कर्म, अधिक संचित नहीं हो पाते हैं। परम्परा की अपेक्षा कर्म-बंध अनादि-कालिक होने पर भी हमारे पास अधिकाधिक ७० कोड़ाकोड़ी सागर से अधिक पुराना कोई भी कर्म नहीं है—यह समझ में आ जाने पर जीवन निर्भय, निर्भार, निश्चिन्त, तनाव-रहित हो जाता है।

२.कर्मों के बँधने और खिरने की संख्या, समान होने पर भी कुछ कम डेड़ गुण-हानि आयाम से गुणित समय-प्रबद्ध-प्रमाण कर्म, सत्ता में सदैव विद्यमान रहते हैं। वे नष्ट हुए विना, कभी भी मुक्ति सम्भव नहीं है—यह समझ में आ जाने पर उन्हें नष्ट करने के लिए उनसे भेद-ज्ञान पूर्वक अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ, तीव्रता से जागृत करने की भावना प्रबल होती है।

३.बँधा हुआ प्रत्येक कर्म, आबाधा-काल व्यतीत कर ही उदय में आता है। आबाधा-काल में कर्मों की स्थिति, मिट्टी के ढेले के समान या पूर्णतया बेहोश शत्रु के समान निष्क्रिय होती है। यदि उस समय जीव भेद-ज्ञान पूर्वक अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करे तो वे सत्ता से भी पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं।

४.खिरते समय भी कर्म उत्तरोत्तर हीन-हीन होते हुए क्रम-क्रम से खिरते हैं। यदि उस समय भी हमने अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ किया तो वे जड़-मूल से नष्ट हो सकते हैं।

५.जानने-देखने की शक्ति से पूर्णतया रहित जड़-कर्म भी अपनी स्पर्शादिरूप अनन्त वैभव-सम्पन्नता के बल पर प्रति-समय इतना सुव्यवस्थित कार्य कर रहा है। इससे सिद्ध है कि जड़-चेतन सभी द्रव्य अपना-अपना कार्य करने में पूर्णतया सक्षम हैं; अर्थात् इच्छानुसार कर्तृत्व का कहीं भी अवसर नहीं है।—यह समझ में आ जाने पर सहज अकर्तृत्व/ज्ञातृत्व भाव प्रगट हो जाता है; जिससे जीवन तो सुख-शान्तिमय होता ही है; सत्ता में स्थित कर्म भी नष्ट होने लगते हैं।

६.इस प्रकरण से, विशाल-काय सूक्ष्म-दर्शी यंत्रों से भी ज्ञात नहीं होनेवाली इस सूक्ष्माति-सूक्ष्म कर्म-व्यवस्था को जाननेवाले केवलज्ञान की विशदता/विशालता भी ज्ञात होती है। जिससे सर्वज्ञ-स्वभाव की महिमा हृदयंगम होने पर जड़ पदार्थों का आकर्षण तो समाप्त होता ही है; अन्य अल्प-ज्ञानों का आकर्षण भी समाप्त होकर दृष्टि, ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा के सम्मुख हो जाती है। जिससे गृहीत-अगृहीत—सभी मिथ्यात्वों का अभाव होकर जीवन सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १५ : छठवीं गाथा को स्पष्ट करते हुए द्रव्यकर्म-भावकर्म का

विश्लेषण कीजिए?

उत्तर : वह गाथा इसप्रकार है—

> **कम्मत्तणेण एक्कं, दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु।**
> **पोग्गल-पिंडो दव्वं, तस्सत्ती भाव-कम्मं तु।।६।।**
> *कर्म सदा कर्मत्वरूप से, एक दुविध भी हैं होते।*
> *द्रव्यकर्म अरु भावकर्म, ये भेद सभी के हैं होते।।*
> *द्रव्यकर्म हैं पुद्गल-पिंडमई ज्ञानावरणादि सब।*
> *उनकी फल देने की शक्ति, भावकर्म ये जानो अब।।६।।*

शब्दश: अर्थ : **कम्मत्तणेण**=कर्मत्व/कर्मपने की अपेक्षा से, **एक्कं**=एक, **दव्वं**=द्रव्य, **भावो**=भाव, **त्ति**=इसप्रकार, **होदि**=होता है, **दुविहं**=दो प्रकार का, **तु**=वास्तव में, **पोग्गलपिंडो**=कर्मरूप से परिणत कार्मण वर्गणामय पुद्गलों का समूह, **दव्वं**=द्रव्य, **तस्सत्ती**=उसकी शक्ति (फल देने की क्षमता), **भावकम्मं**=भावकर्म, **तु**=वास्तव में ।।६।।

अन्वय : कम्मत्तणेण एक्कं, तु दव्वं भावो त्ति दुविहं होदि, पोग्गलपिंडो दव्वं तु तस्सत्ती भावकम्मं।

सरलार्थ : कर्म, कर्मत्व की अपेक्षा एक है अर्थात् कर्म, मात्र कर्म है, उसमें कोई भेद नहीं है। द्रव्यकर्म और भावकर्म की अपेक्षा वास्तव में उसके दो भेद भी हो जाते हैं। ज्ञानावरणादि कर्मरूप से परिणमित कार्मण-वर्गणामय पुद्गलों का समूह, द्रव्यकर्म है तथा वास्तव में उसकी फल देने की शक्ति, भावकर्म है।

स्पष्टीकरण : प्रस्तुत गाथा में समागत द्रव्यकर्म-भावकर्म की परिभाषा के अनुसार ज्ञानावरणादि प्रत्येक द्रव्यकर्म की फलदान क्षमता, उसका भावकर्म है अर्थात् भावकर्म, द्रव्यकर्म का ही है। द्रव्यकर्म, भावकर्म के विना या भावकर्म, द्रव्यकर्म के विना नहीं हो सकता है; दोनों परस्पर अविनाभावी हैं।

प्रत्येक वस्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमय स्व-चतुष्टयात्मक होने से कर्म भी इसरूप ही हैं। ज्ञानावरणादि कर्मों का प्रकृतिबंध-स्वद्रव्य, प्रदेशबंध-स्वक्षेत्र, स्थितिबंध-स्वकाल और अनुभागबंध-स्वभाव

है। अनुभाग अर्थात् फल देने की क्षमता अर्थात् भावकर्म।—इसप्रकार प्रत्येक द्रव्यकर्म, भावकर्म से सहित होता है।

वास्तविक भावकर्म तो यह फलदान क्षमता ही है। जीव में उत्पन्न होनेवाले रागादि विकारी भाव तो नैमित्तिक कार्य में निमित्त कारण का उपचार करके व्यवहार से भावकर्म कहे जाते हैं। सामने मोर होने पर दर्पण की स्वच्छता के कारण दर्पण में बननेवाले तद्रूप आकार को मोर कहने के समान।

ज्ञानावरणादि कर्मों का जब विपाक/उदयकाल होता है, तब यह जीव के ज्ञान-पर्याय की स्वच्छता के कारण ज्ञान-दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है। इस प्रतिबिम्ब का निमित्त कारण वह पौद्गलिक भावकर्म होने से, इसका नाम भी भावकर्म पड़ गया। अनादि से इस जीव को अपने ज्ञान के ज्ञानत्व की प्रसिद्धि नहीं होने के कारण (मैं मात्र जाननेवाला हूँ; ये जो पर-पदार्थ मुझमें झलक रहे हैं; यद्यपि उस समय मैं उसरूप ही दिखाई दे रहा हूँ; तथापि मैं रंच-मात्र भी उसरूप नहीं हुआ हूँ। मैं उनरूप नहीं; वरन् उन्हें मात्र जाननेवाला हूँ—ऐसा विवेक नहीं होने के कारण) उन झलकने वाले ज्ञेयों रूप ही स्वयं को मानकर 'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि रूप स्वयं को मानकर अपनी मान्यता, ज्ञान और आचरण में नए विकार, उत्पन्न होते हैं। ये विकार उस पौद्गलिक भावकर्म को निमित्त बनाकर उत्पन्न हुए होने के कारण उपचार से भावकर्म कहलाते हैं। ये भावकर्म ही संसार के बीज हैं।

प्रश्न १६ : यदि प्रकृतिबंध आदि भेद ही बंध के द्रव्यादि स्वचतुष्टय हैं, तब फिर द्रव्यकर्म और भावकर्म के समान क्षेत्रकर्म और कालकर्म क्यों नहीं कहे गए हैं ?

उत्तर : प्रकृतिबंध आदि भेद ही बंध के द्रव्यादि चतुष्टय होने पर भी प्रदेशबंध को प्रकृतिबंध में और स्थितिबंध को अनुभागबंध में गर्भित कर देने से क्षेत्रकर्म और कालकर्म को पृथक् से नहीं कहा गया है। क्षेत्र और काल को क्रमश: द्रव्य और भाव में गर्भित कर लेने के कुछ कारण निम्नलिखित हैं—

*१.*काल तो सभी का ही द्रव्य की अपेक्षा अनादि-अनंत/नित्य और

पर्याय की अपेक्षा सादि-सांत/अनित्य होने से समान ही है तथा क्षेत्र में प्रदेशों की संख्या-अपेक्षया असमानता होने पर भी उससे उनकी विशेषताओं में कोई अन्तर नहीं आता है; अत: क्षेत्र और काल को गौणकर द्रव्य और भाव की मुख्यता से ही प्राय: प्रत्येक वस्तु का वर्णन, जिनागम में किया गया है; जैसे जीव, ज्ञानानंद-स्वभावी है; पुद्गल, वर्णादिवान है इत्यादि। इसी अपेक्षा प्रस्तुत प्रकरण में भी द्रव्यकर्म और भावकर्म—ये दो भेद किए गए हैं।

२.प्रकृति और प्रदेश बंध, योग से तथा स्थिति और अनुभाग बंध, मिथ्यात्वादि कषायान्त परिणामों से होता है। इसप्रकार कारणों की समानता होने से ये दोनों सरलता से एक-दूसरे में गर्भित हो जाते हैं। प्रकृति का ज्ञान हुए विना प्रदेशबंध का और फलरूप अनुभाग का ज्ञान हुए विना स्थितिबंध का महत्त्व स्पष्ट ज्ञात नहीं हो पाने से, प्रकृति में प्रदेश को और अनुभाग में स्थिति को गर्भित कर इन दोनों की मुख्यता से यहाँ द्रव्यकर्म और भावकर्म—ये दो भेद ही किए हैं।

इत्यादि अनेक कारणों से यहाँ इन दोनों को मुख्य किया गया है।

प्रश्न १७ : रागादि विकारी भावों के संबंध में जिनागम में कितनी विवक्षाएँ उपलब्ध हैं ? प्रमाण देते हुए उनके कारणों को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : रागादि विकारी भावों के संबंध में जिनागम में मुख्यतया चार विवक्षाएँ उपलब्ध होती हैं—१. रागादि भाव, जीव के हैं; २. रागादि भाव, पुद्गल के हैं; ३. रागादि भाव, जीव-पुद्गल—दोनों के हैं; ४. रागादि भाव, जीव-पुद्गल दोनों के नहीं हैं।

चार-अनुयोगों मय जिनागम में ये चारों विवक्षाएं यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयपाहुड/समयसार तथा इसकी टीकाओं में भी प्रकरणानुसार ये चारों विवक्षाएँ उपलब्ध होती हैं। टीकाओं, कलशों-सहित गाथा १०२, १२५, १४०, ३७१ आदि में रागादि भाव, जीव के सिद्ध किए गए हैं। गाथा ३९ से ६८, १०९ से ११५ आदि में, इनकी टीकाओं में तथा गाथा १४, ७३, ९२, ९३ आदि की टीकाओं में इन्हें पुद्गल का सिद्ध किया गया है। ८७, ८८, १६४, १६५ इत्यादि गाथाओं-टीकाओं द्वारा इन्हें जीव और पुद्गल—दोनों का सिद्ध किया गया है।

अज्ञान के कारण मात्र क्षणवर्ती पर्याय में उत्पन्न होने के कारण वास्तव में ये नित्य सत्ता-सम्पन्न जीव और पुद्गल दोनों के ही नहीं हैं—इसे ३६६ से ३७१ पर्यंत गाथाओं की टीका आदि में स्पष्ट किया गया है।

जैसे—लोक में एक ही पुत्र का परिचय चार प्रकार से दिया जा सकता है; उसीप्रकार रागादि भावों का समझना चाहिए। पुत्र अपने ननिहाल में माता का, पिता के यहाँ पिता का, दोनों के संयोग से उत्पन्न हुआ होने के कारण दोनों का कहलाता है। इतना होने पर भी यदि वह दोनों की अवज्ञा करने लगे, कृतघ्नी हो जाए तो दोनों ही कहने लगते हैं कि यह मेरा नहीं है; इसीप्रकार रागादि भाव जीव में उत्पन्न होने के कारण जीव के; पुद्गल के साथ घनिष्ठतम निमित्त-नैमित्तिक संबंध, अन्वय-व्यतिरेक संबंध तथा स्वभावगत समानता के कारण पुद्गल के (एतदर्थ इसी की ११वीं गाथा का स्पष्टीकरण पृ.४० पर देखिए) तथा दोनों के निमित्त-नैमित्तिक संबंध से उत्पन्न होने के कारण जीव-पुद्गल—दोनों के ही कहलाते हैं। इतना होने पर भी जीव को वे सुखद नहीं होने के कारण तथा पुद्गल को उनका फल नहीं मिलने के कारण और दोनों के ही स्वाभाविक भाव नहीं होने के कारण, वे दोनों के ही नहीं हैं—यह कहा जाता है।

आचार्यों ने इन चारों विवक्षाओं का औचित्य भी सहेतुक स्पष्ट किया है। जो इसप्रकार है—

प्रथम विवक्षा का औचित्य सिद्ध करते हुए वे लिखते हैं कि यदि इन्हें दृढ़ता से जीव का स्वीकार नहीं किया जाए; इन्हें मैं ही करता हूँ, इन रूप मैं स्वयं ही परिणमित हुआ हूँ, इन्हें बनाए रखने या नष्ट करने का दायित्व मेरा है, इनमें पर का कुछ भी हस्तक्षेप नहीं है—जब तक ऐसा स्वीकार नहीं करता है, तब तक इन्हें नष्ट कर पाना संभव नहीं है। इस संदर्भ में समयसार कलश २२१ में आचार्य अमृतचंद्रदेव तो यहाँ तक लिखते हैं कि—

''राग-जन्मनि निमित्ततां पर-द्रव्य-मेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति नहि मोह-वाहिनीं, शुद्ध-बोध-विधुरान्ध-बुद्धय:।।

राग की उत्पत्ति में जो पर-द्रव्य की ही निमित्तता को स्वीकार

करते हैं, शुद्ध-बोध से रहित अंध-बुद्धिवाले वे, मोह-नदी को पार नहीं कर सकते हैं।''

वस्तु-स्वरूप की अपेक्षा विचार करने पर भी रागादि भाव, जीव के चारित्र आदि गुणों के विकृत परिणमन हैं।

निष्कर्ष यह है कि अपनी विकृति स्वीकार कर उसे नष्ट करने की दिशा में पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देने के लिए रागादि भावों को जीव का कहा गया है।

द्वितीय विवक्षा का कारण यह है कि रागादि भाव, जीव के स्वाभाविक भाव नहीं हैं; पौद्‌गलिक कर्म के उदय में होने वाले औदयिक भाव हैं। इनका निमित्त कारण, पुद्‌गल है। उसके संसर्ग से उत्पन्न होने के कारण ये उसके ही हैं। इन रागादि के नष्ट होते ही तत्संबंधी पौद्‌गलिक कर्म नियम से नष्ट हो जाते हैं; परन्तु इनके नाश का जीव की सत्ता पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। यह इनसे पूर्णतया अप्रभावित ही रहती है। इन्हें अपना मानना ही संसार का कारण है।

वस्तु-स्वरूप की अपेक्षा विचार करने पर भी रागादि भावकर्म, वास्तव में पौद्‌गलिक कर्ममय हैं। उनकी फलदान क्षमता ही भावकर्म है।

निष्कर्ष यह है कि जो जिस निमित्त से हुआ है, उसे उसका ही मानकर, उनसे सतत भेद-विज्ञान करते हुए स्वरूप-स्थिर रहने की प्रेरणा देने के लिए रागादि भावों को पुद्‌गल का कहा गया है।

तृतीय विवक्षा का कारण यह है कि ये दोनों के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध से उत्पन्न होते हैं। यदि जीव स्वरूप-स्थिर हो,परोन्मुखी वृत्तिवाला नहीं हो, तो ये उत्पन्न नहीं होते हैं; इसी प्रकार तत्संबंधी पूर्व-बद्ध कर्म के उदय/उदीरणा के विना भी ये उत्पन्न नहीं होते हैं; इनके निमित्त-विना कर्म-बंध भी नहीं होता है। जीव की परोन्मुखी वृत्ति और कर्मोदय—इनका निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने पर ही ये उत्पन्न होते हैं। जीव की स्वरूप-स्थिरता-सम्पन्न दशा होने पर, कर्मोदय नहीं होने से ये उत्पन्न नहीं होने के कारण; द्रव्यकर्म और भावकर्म का निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से इन्हें दोनों का कहा गया है।

वस्तु-स्वरूप की अपेक्षा विचार करने पर भी प्रत्येक कार्य स्वभाव, पुरुषार्थ, काललब्धि, भवितव्य, निमित्त रूप अंतरंग-

बहिरंग—दोनों कारणों की संनिधि में होने के कारण वह दोनों का कहा जाता है; अतः रागादि भावों को भी जीव-पुद्‌गल—दोनों का कहा गया है।

निष्कर्ष यह है कि जीव इन्हें अपने स्वभावमय नहीं मान ले इसलिए पुद्‌गल का तथा पुद्‌गल का मानकर उन्हें नष्ट करने के लिए पुद्‌गल की ओर ही नहीं देखता रहे इसलिए जीव का कहकर आचार्यदेव; स्वोन्मुखी पुरुषार्थ जागृत करने की प्रेरणा देने के लिए रागादि भावों को दोनों का कहते हैं।

चतुर्थ विवक्षा का कारण यह है कि रागादि का स्वभाव दोनों से ही नहीं मिलता है। यदि ये जीव के हों तो जीव के समान ज्ञानानंदमय शाश्वत, स्व-सापेक्ष होना चाहिए तथा पुद्‌गल के हों तो चिद्-विकार रूप रागादि, पुद्‌गल की पर्याय तथा उसके ही भोग्य होना चाहिए। ये दोनों ही तथ्य रागादि में घटित नहीं होते हैं; अतः ये दोनों के ही नहीं हैं। अज्ञानमय क्षणिक, परोन्मुखी वृत्ति से क्षणिक कर्मोदय का निमित्त पाकर तत्समय की अपनी योग्यता से पर्याय में प्रगट हो जाते हैं। जीव तथा पुद्‌गल दोनों ही अनादि-अनंत द्रव्य, उनसे पूर्णतया अप्रभावित ही रहते हैं; अतः ये दोनों के ही नहीं हैं।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्ता-सम्पन्न वस्तु-स्वरूप से विचार करने पर उत्पाद-व्यय भी अपने-अपने समय के अहेतुक सत् होने से वे अन्य किसी के नहीं हैं, स्वयं के ही हैं; अतः रागादि भाव भी स्वयं, स्वयं के ही हैं; जीव और पुद्‌गल दोनों के ही नहीं हैं।

निष्कर्ष यह है कि सम्पूर्ण पर और पर्याय मात्र से दृष्टि हटाकर अपनी ज्ञानानन्दमय, भगवती शाश्वत सत्ता में संतुष्ट रहने की प्रेरणा देने के लिए आचार्यदेव यह कहते हैं कि रागादि भाव, जीव और पुद्‌गल दोनों के ही नहीं हैं।

इसप्रकार रागादि भावों को नष्ट करने का/वीतरागता प्रगट करने का उपाय बताने के लिए आचार्यों ने प्रसंगानुसार रागादि के संबंध में मुख्य रूप से चार प्रकार के कथन किए हैं।

प्रश्न १८ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.वास्तव में कर्म, कर्मपने से एक है। शुभ-अशुभ, पुण्य-पापरूप कर्म भी, मात्र कर्म हैं, बंधनमय हैं, दु:ख के निमित्त कारण हैं—यह समझ में आ जाने पर शुभ आस्रव, शुभ बंध को अच्छा मानने; पुण्य को अच्छा मानने, धर्म मानने इत्यादि रूप विपरीत मान्यता नष्ट हो जाने से आस्रव, बंध, पुण्य, पाप आदि तत्त्वों संबंधी विपरीत मान्यता नष्ट हो जाती है।

२.इसी ज्ञान के बल पर अन्य के विशिष्ट पुण्य-परिणामों या पुण्योदय के प्रति आकर्षित होने का परिणाम भी नष्ट हो जाता है, जिससे गृहीत मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है।

३.जो जिसका है, उसे उसका ही मानते-जानते रहना, ईमानदारी है। भावकर्म, वास्तव में पौद्गलिक द्रव्यकर्म की फलदान क्षमता है। जीव तो उन्हें, अज्ञानता-वश अपना मानकर नए विकार/भावकर्म उत्पन्न कर व्यर्थ ही दुखी हो रहा है—यह समझ में आ जाने पर हम अपनी अज्ञानता नष्टकर, ज्ञानी हो, विकार नष्टकर, सुखी हो जाते हैं।

४.जैसे दर्पण में पदार्थ झलकने से दर्पण प्रभावित नहीं होता है। कोई अच्छा, मूल्यवान पदार्थ झलकने से दर्पण अच्छा, मूल्यवान नहीं हो जाता है तथा बुरा, मूल्यहीन पदार्थ झलकने से दर्पण बुरा, मूल्यहीन नहीं हो जाता है; उसीप्रकार ज्ञान-दर्पण भी सदैव, उसमें झलकने वाले ज्ञेय पदार्थों से पूर्णतया अप्रभावित ही रहता है—यह समझ में आ जाने पर हमारा सभी ज्ञेयों के प्रति सहज समता-भाव हो जाता है; जो स्वयं सुख-शान्तिमय दशा है।

५. **''एव-मयं कर्म-कृतै-र्भावै-रसमाहितोऽपि युक्त इव।**
प्रतिभाति बालिशानां, प्रतिभास: स एव खलु भवबीजम्।।
——पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, १४।।

इन सभी कर्म-कृत भावों से असमाहित/पृथक् होने पर भी अज्ञानी को समाहित के समान/अपने से अभिन्न के समान प्रतिभासित होते हैं/लगते हैं; यह प्रतिभास/मान्यता ही संसार का बीज है''।

यह समझ में आ जाने पर जब हम उनसे भेद-विज्ञान कर अपने में अपनत्व स्थापित करते हैं; तब संसार का बीज नष्ट होकर, हमारा जीवन सुख-शान्तिमय, सम्यक् रत्नत्रय-संपन्न हो जाता है।

इसी के बल पर वर्तमान तथा आगामी जीवन भी तनाव-मुक्त अतींद्रिय आनन्दमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १९ : गाथा ७-८वीं के आधार से कर्म के भेद स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

तं पुण अट्ठविहं वा, अडदालसयं असंखलोगं वा।
ताणं पुण घादित्ति अघादित्ति य होंति सण्णाओ।।७।।
णाणस्स दंसणस्स य, आवरणं वेयणीय-मोहणियं।
आउग-णामं गोदंतराय-मिदि अट्ठ -पयडीओ।।८।।

वे ही आठ प्रकार एक सौ अड़तालीस अनेकों भी।
असंख्य लोक प्रमाण बताए, वे ही घाति अघाति भी।।७।।
ज्ञानावरण दर्शनावरणी, वेदनीय मोहनीय भी।
आयुष्क नाम गोत्र प्रकृति व अन्तराय ये आठ कहीं।।८।।

शब्दश: अर्थ : **तं**=वे/कर्म, **पुण**=पुन:/फिर, **अट्ठविहं**=आठ प्रकार के, **वा**=अथवा, **अड**=आठ, **दाल**=चालीस, **सयं**=सौ अर्थात् एक सौ अड़तालीस; **असंखलोगं**=असंख्यात लोक-प्रमाण, **वा**=अथवा, **ताणं**=उनके, **पुण**=पुन:, **घादि+त्ति**=घाति ऐसे, **अघादि+त्ति**= अघाति ऐसे, **य**=और, **होंति**=होते हैं, **सण्णाओ**=नाम/भेद।।७।।

णाणस्स=ज्ञान का, **दंसणस्स**=दर्शन का, **य**=और, **आवरणं**= आवरण अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण; **वेयणीय**=वेदनीय, **मोहणियं**=मोहनीय, **आउग**=आयुष्क, **णामं**=नाम, **गोद**=गोत्र, **अंतरायं**=अंतराय, **इदि**=इसप्रकार, **अट्ठ**=आठ, **पयडीओ**= प्रकृतिआँ।।८।।

अन्वय : पुण तं अट्ठविहं वा सयंदालअड वा असंखलोगं, पुण ताणं घादित्ति य अघादित्ति सण्णाओ होंति।

णाणस्स आवरणं दंसणस्स आवरणं वेयणीय मोहणियं आउगं णामं गोदं अंतरायं इदि अट्ठ पयडीओ।

सरलार्थ : पुन: वे (द्रव्य और भावरूप कर्म) आठ प्रकार के, एक सौ अड़तालीस प्रकार के तथा असंख्यात लोक-प्रमाण भेदवाले हैं।

इनके भी घाति और अघाति नामवाले दो भेद हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र और अंतराय—ये आठ प्रकृतिआँ हैं।

स्पष्टीकरण : पुद्‌गल-पिण्डरूप द्रव्यकर्म और फलदान-शक्तिरूप भावकर्म—इन दोनों के ही मूल भेद आठ, उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस तथा उत्तरोत्तर भेद असंख्यात लोक-प्रमाण होते हैं। इन सभी के द्रव्य और भाव—ये दो-दो रूप हैं।

द्रव्य-भाव भेदमय ज्ञानावरणादि मूल आठ कर्म-प्रकृतिओं को सारणी द्वारा इसप्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

गाथा ७-८वीं के आधार से कर्म-प्रकृतिओं के भेद-प्रभेद

मूल कर्म-प्रकृतिआँ

- **ज्ञानावरण** — **द्रव्य**, **भाव**
- **दर्शनावरण** — **द्रव्य**, **भाव**
- **वेदनीय** — **द्रव्य**, **भाव**
- **मोहनीय** — **द्रव्य**, **भाव**
- **आयुष्क** — **द्रव्य**, **भाव**
- **नाम** — **द्रव्य**, **भाव**
- **गोत्र** — **द्रव्य**, **भाव**
- **अंतराय** — **द्रव्य**, **भाव**

इसीप्रकार प्रत्येक उत्तर-प्रकृति के भी द्रव्य और भाव—ये भेद जानना चाहिए। उस प्रकृतिरूप परिणत पुद्‌गल-पिण्ड, उसका द्रव्यकर्म है तथा उसकी फलदान-शक्ति, उसका भावकर्म है।

प्रश्न २० : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

*१.*विभाव सीमित है; उसके सामने अनन्त सामर्थ्य-सम्पन्न ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा, सतत विद्यमान है—यह समझ में आ जाने पर यदि हम विभाव से दृष्टि हटाकर उस पर्याय को आत्म-स्वभाव में केन्द्रित करते हैं; तो समस्त विभाव, जड़-मूल से नष्ट हो जाता है —इसप्रकार यह प्रकरण सतत अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देता है।

*२.*वास्तव में द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों ही कर्म, पुद्‌गल-प्रकृतिमय हैं; जीव के नहीं। जीव तो अपनी अज्ञानता-वश अपने ज्ञान-दर्पण में बननेवाले उदयावस्थारूप भावकर्म के प्रतिबिम्ब से भेद-ज्ञान नहीं कर पाने के कारण उनमय स्वयं को मान लेनेरूप नए विकार/

भावकर्म उत्पन्न करता हुआ व्यर्थ ही दु:ख भोग रहा है—यह समझ में आ जाने पर यदि हम उससे सतत भेद-विज्ञान करने का पुरुषार्थ करते हैं, तो भूमिकानुसार कर्म की उदयावस्था, नष्ट हो जाने से प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाता है—इसप्रकार यह प्रकरण सतत भेद-विज्ञान जागृत रखने की प्रेरणा देता है।

*३.*कर्म के उदय में बननेवाली सम्पूर्ण परिस्थितिआँ कर्म-कृत हैं, जीव-कृत नहीं हैं; उन्हें हटाना अथवा मिलाना अपने हाथ में नहीं है; अत: उन्हें सहज स्वीकार करते हुए, उनसे सतत भेद-विज्ञान करते रहने की प्रेरणा, यह प्रकरण देता है।

*४.*वास्तव में आत्मिक उन्नति, अतींद्रिय आनन्द आदि में बाधक निमित्त कारण, अन्य कोई पदार्थ या परिस्थितिआँ नहीं हैं; एक मात्र ये कर्म ही हैं—यह समझ में आ जाने पर अन्य की ओर का राग-द्वेष, नष्ट हो जाता है तथा क्योंकि कर्म, अपने मोहादि विकारी भावों का निमित्त पाकर बँधते हैं; अत: उन्हें नष्ट करने के लिए उनकी ओर न देखकर, अपने आत्मा में स्थिर रहने का प्रयास करना चाहिए। जिसके लिए स्व-पर का भेद-विज्ञान कर अपने आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसमें ही लीनता के लिए अंतरोन्मुखी पुरुषार्थ करने की प्रेरणा इस प्रकरण से मिलती है।

इत्यादि अनेकों लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न २१ : गाथा ९-१०वीं के आधार पर घाति-अघाति कर्मों को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

आवरण-मोह-विग्घं, घादी जीव-गुण-घादणत्तादो।
आउग-णामं गोदं, वेयणियं तह अघादित्ति।।९।।
केवलणाणं दंसण-मणंतविरियं च खयिय-सम्मं च।
खयिय-गुणे मदियादी, खओवसमिए य घादी दु।।१०।।

जीव गुणों के घातक, ज्ञानावरण दर्शनावरणी हैं।
मोहनीय अरु अंतराय ये चारों कर्म घातिया हैं।
आयुष्क नाम रु गोत्र तथा वेदनीय कर्म अघाति हैं।
अनुजीवी गुण नहीं घातते, अत: अघाति कहें उन्हें।।९।।

केवलदर्शन ज्ञान अनंतवीर्य क्षायिक सम्यक्त्व सभी।
क्षायिकगुण अरु मति आदि सब क्षायोपशमिक गुणों के भी।।
व्यक्त नहीं हो पाने में हैं निमित्त वे घाति जानों।
जिनके रहने पर भी ये हों व्यक्त अघाति वे मानों।।१०।।

शब्दश: अर्थ : **आवरण**=ज्ञानावरण-दर्शनावरण, **मोह**=मोहनीय, **विग्घं**=अंतराय, **घादी**=घातिकर्म, **जीवगुण**=जीव के गुणों को, **घादणत्तादो**=घात करनेवाले होने से, **आउग**=आयुष्क, **णामं**=नाम, **गोदं**=गोत्र, **वेयणियं**=वेदनीय, **तह**=उसीप्रकार, **अघादि**=अघाति कर्म, **त्ति**=इसप्रकार।।९।।

केवलणाणं=केवलज्ञान, **दंसणं**=केवलदर्शन, **अणंतविरियं**=अनंतवीर्य, **च**=और **खयियसम्मं**=क्षायिक सम्यक्त्व, **च**=और अर्थात् क्षायिक चारित्र आदि, **खयियगुणे**=क्षायिक गुणों को, **मदियादी**=मति आदि, **खओवसमिए**=क्षायोपशमिक को, **य**=और अर्थात् औपशमिक भावों को, **घादी**=घातते हैं, **दु**=वास्तव में।।१०।।

अन्वय : जीवगुणघादणत्तादो आवरणमोहविग्घं घादी तह आउगणामं गोदं वेयणियं अघादित्ति।

केवलणाणं केवलदंसणं अणंतविरियं च खयियसम्मं च खयियगुणे, य मदियादी खओवसमिए घादी दु।

सरलार्थ : जीव के गुणों का घात करने में निमित्त होने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय—ये चार घाति कर्म हैं तथा आयुष्क, नाम, गोत्र और वेदनीय—ये चार अघाति कर्म हैं।

घाति कर्म केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग—इन नौ क्षायिक गुणों/भावों के; मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय ज्ञान, कुमति-कुश्रुत-कुअवधिज्ञान, चक्षु-अचक्षु-अवधिदर्शन, क्षायोपशमिक दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र, संयमासंयम—इन अठारह क्षायोपशमिक गुणों/भावों के और औपशमिक सम्यक्त्व-चारित्र—इन दो औपशमिक गुणों/भावों के घात में निमित्त होते हैं।

स्पष्टीकरण : इन दो गाथाओं के आधार से इन भेदों को हम सारणी

द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं—

क्रम	घाति कर्म नाम	घाते जानेवाले गुण/भाव
१.	द्रव्य-भाव ज्ञानावरण	केवलज्ञान, मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय, कुमति-कुश्रुत-कुअवधिज्ञान/विभंगावधिज्ञान।
२.	’’ दर्शनावरण	केवलदर्शन, चक्षु-अचक्षु-अवधि दर्शन।
३.	द्रव्य-भाव मोहनीय	क्षायिक सम्यक्त्व-चारित्र, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व - चारित्र-संयमासंयम, औपशमिक सम्यक्त्व-चारित्र।
४.	द्रव्य-भाव अन्तराय	क्षायिक दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य; क्षायोपशमिक दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य।

क्रम	अघाति कर्म नाम	घाते जानेवाले गुण/भाव
१.	द्रव्य-भाव आयुष्क	अवगाहनत्व।
२.	द्रव्य-भाव नाम	सूक्ष्मत्व/अमूर्तिकत्व।
३.	द्रव्य-भाव गोत्र	अगुरुलघुत्व।
४.	द्रव्य-भाव वेदनीय	अव्याबाधत्व।

प्रश्न २२ : घाति-अघाति कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त होने वाले कर्म को घाति तथा इन अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त नहीं होने वाले कर्म को अघाति कर्म कहते हैं।

प्रश्न२३:अघाति की परिभाषा अनुजीवी गुणों की ओर से क्यों दी?

उत्तर : यदि अघाति कर्म की परिभाषा अनुजीवी गुणों की ओर से नहीं देकर प्रतिजीवी गुणों की ओर से देते तो उनका नाम भी घाति होता; क्योंकि अघाति कर्म, प्रतिजीवी गुणों के घात में तो निमित्त हैं ही। यदि वे इनके भी घात में निमित्त नहीं होते तो कर्म ही नहीं कहलाते। इसप्रकार दोनों को भिन्न-भिन्न करने के लिए घाति-अघाति का भेद, अनुजीवी गुणों की मुख्यता से हुआ है।

प्रश्न २४ : कर्मों के इन भेदों में अनुजीवी गुणों को मुख्य क्यों किया?

उत्तर : प्राणी मात्र का प्रयोजन सुखी होना है। उसे अन्य सभी अवस्थाएं स्वीकार हैं, पर दु:ख अवस्था स्वीकार नहीं है। दु:ख, नष्ट

करने के लिए अर्थात् सुखी होने के लिए वह सतत प्रयत्न-शील है। सुख, अनुजीवी गुण है। जिसका सुखरूप परिणमन, अघाति कर्म विद्यमान रहने पर भी, घाति कर्मों के अभाव में हो जाता है; अत: कर्मों के घाति-अघाति भेदों में अनुजीवी गुणों को मुख्य किया।

प्रश्न २५ : यदि कर्मों के घाति-अघाति भेद सुख की मुख्यता से किए गए हैं; तब फिर सुख के घात में निमित्त नहीं होने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को भी घाति में नहीं गिनकर अघाति में गिनना चाहिए; मात्र मोहनीय कर्म को ही घाति कहना चाहिए ?

उत्तर : वास्तव में स्वभाव का प्रतिघात या भावकर्म की विद्यमानता ही दु:ख है। इसमें मोहनीय कर्म का उदय तो निमित्त है ही; ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय का उदय भी निमित्त है। ये तीनों कर्म, जीव के ज्ञान-दर्शन-वीर्यरूप स्वभाव के घात में तो निमित्त हैं ही; भावकर्म में भी निमित्त होते हैं। वह इसप्रकार है—

१.भावकर्म दो प्रकार के हैं—१. मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भावरूप भावकर्म और २. ज्ञप्ति-परिवर्तनरूप भावकर्म। मोहनीय कर्म का उदय; मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भावरूप भावकर्म में निमित्त होता है। जिनका क्षय दशवें गुणस्थान के व्यय-समय या बारहवें गुणस्थान के उत्पाद-समय में हो जाता है। ज्ञानावरणादि शेष तीन घाति कर्मों का उदय, ज्ञप्ति-परिवर्तनरूप भावकर्म में निमित्त होता है। जिनका क्षय बारहवें गुणस्थान के व्यय-समय या तेरहवें गुणस्थान के उत्पाद-समय में होता है। यही कारण है कि मोहनीय का पूर्णतया अभाव हो जाने पर भी, जब तक इन तीनों कर्मों का अभाव नहीं होता है, तबतक जीव, अनंत सुखी नहीं हो पाता है। चारों घाति कर्मों के अभाव में ही अनंत सुखमय दशा प्रगट होती है।

इसप्रकार ये तीनों भी सुख के घात में निमित्त होने से इन्हें घाति कर्म में गिना गया है। (भावकर्म के लिए देखिए—प्रवचनसार, गाथा २३३ की तत्त्व-दीपिका टीका; दु:ख के लक्षणार्थ देखिए पंचास्तिकाय -संग्रह, गाथा १६३ की समय-व्याख्या टीका आदि)।

२.मोहनीय कर्म के पूर्णतया अभाव में पूर्ण वीतरागी हो जाने पर भी ज्ञानावरणादि शेष घाति कर्मों की विद्यमानता होने से यह जीव,

पर्याय में अनन्त-चतुष्टय-सम्पन्न अनन्त सुखी नहीं हो पाता है; उनके अभाव में ही अनन्त सुखी होता है।

इत्यादि कारणों से यह स्पष्ट है कि चारों ही घाति कर्म, सुख के घात में निमित्त होते हैं; अत: उन्हें घाति कहना उचित है।

प्रश्न २६ : अनुजीवी और प्रतिजीवी गुण का स्वरूप स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर : भाव-स्वरूपी गुण को अनुजीवी तथा अभाव-स्वरूपी गुण को प्रतिजीवीगुण कहते हैं; भाव=विद्यमान, अभाव=अविद्यमान। गुण तो अनादि-अनन्त होने के कारण सदा विद्यमान ही रहते हैं; अत: भाव-स्वरूपी ही हैं, अभावरूप होते ही नहीं हैं। अनुजीवी और प्रतिजीवीपने का भेद तो उनके परिणमन की विशेषता से पड़ता है। सदा विद्यमान रहनेवाले गुणों में से ही कुछ गुण ऐसे हैं, जिनका अधिकाधिक विकृत परिणमन होने पर भी, उसमें ही कुछ न कुछ अंशों में स्वाभाविक शुद्ध अंश, सतत विद्यमान रहता है; उन्हें अनुजीवी-गुण कहते हैं। अनु=अनुसरण करते हुए, साथ-साथ, जीवी=जीवित रहें, अपना स्वाभाविक शुद्ध अंश व्यक्त रखें; अर्थात् उनमें शुद्धाशुद्धरूप मिश्र परिणमन विकृततम दशा में भी सतत विद्यमान रहता है। जैसे—ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि।

इससे विपरीत कुछ गुण ऐसे हैं, जिनका विकृत परिणमन के समय, अंश-मात्र भी स्वाभाविक शुद्ध अंश, व्यक्त नहीं रहता है, उन्हें प्रतिजीवी-गुण कहते हैं। प्रति=उससे विपरीत, जीवी=जीवित रहें; अर्थात् जिनमें पूर्णतया शुद्ध या पूर्णतया अशुद्धरूप ही परिणमन हो, शुद्धाशुद्धरूप मिश्र परिणमन हो ही नहीं; चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त पूर्णतया अशुद्ध परिणमन ही रहे; मात्र सिद्ध दशा में ही शुद्ध परिणमन हो, वे प्रतिजीवी-गुण हैं। जैसे—अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व आदि।

अनुजीवी-गुणों के परिणमन में स्वाभाविक शुद्ध अंश, निगोद की स्थिति में भी विद्यमान है। उसकी भी ज्ञान पर्याय में जो मात्र जानना-जानना विद्यमान है, वह ज्ञान का शुद्ध अंश है। पण्डित बनारसीदासजी ने तो इसे केवलज्ञान का अंकुर कहा है। सुख (श्रद्धा-चारित्र) गुण के परिणमन में जो आकुलता की कुछ कमीरूप विशुद्ध-परिणाम है, जिसके

बल पर वह निगोद दशा को छोड़कर व्यवहार-राशि में आता है, वह चारित्र का स्वाभाविक शुद्ध अंश है। इसे वे 'उपादान-निमित्त चिट्ठी' में यथाख्यात चारित्र का अंकुर लिखते हैं। वीर्य गुण के परिणमन में जो जानने-देखने आदिरूप कार्य करने की क्षमता है, वह वीर्य गुण का स्वाभाविक शुद्ध अंश है।—इसीप्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए।

पर्याय में विद्यमान इस स्वाभाविक शुद्ध अंश को वे (पं. बनारसीदासजी) वहीं (उपादान-निमित्त चिट्ठी में) 'गर्भित शुद्धता' नाम से भी सम्बोधित करते हैं। वे लिखते हैं कि यद्यपि ग्रंथि-भेद (मिथ्यात्व का नाश) हुए विना यह, मोक्ष-मार्ग नहीं साध पाती है; तथापि ऊर्ध्वता तो करती ही है। इसे स्वीकार करने की वे वहीं प्रेरणा भी देते हैं तथा स्वीकार कर लेने पर शाबाशी दिए विना भी वे नहीं रहते हैं।

इस गर्भित-शुद्धता के बल पर जीव, प्रायोग्य लब्धि पर्यन्त आ जाता है।

अनुजीवी गुणों के प्रकरण में श्रद्धा और चारित्र को एक 'सुख' नाम से सम्बोधित किया है। मोह, राग, द्वेष आदि की कुछ मंदता के समय जो तीव्रता का अभाव है, वही उस गुण का स्वाभाविक शुद्ध अंश है।

जिनागम में जो कषायादि की मन्दता को अच्छा कहा गया है, वह इसी अपेक्षा से है। उसमें वे विकृति की तीव्रता के अभाव को अच्छा कह रहे हैं, विद्यमान विकृति को नहीं। आत्म-कल्याण की दृष्टि से भी यह समझना अत्यंत आवश्यक है; क्योंकि यह समझ में आ जाने पर मंद कषायादि के प्रति आसक्ति नहीं रहती, शुभ कार्यों में धर्म मानने की बुद्धि नष्ट हो जाती है, अशुभ प्रवृत्ति से बचने का पुरुषार्थ जागृत होता है, गृहीत मिथ्यात्व का पोषण नहीं होता, परिणामों में निर्मलता बनी रहने के कारण धर्मायतन भी अहिंसामय पवित्र रहते हैं, प्राप्त ज्ञान के ज्ञानत्व को मुख्यकर भेद-ज्ञान पूर्वक अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करने का प्रयास प्रारम्भ हो जाता है।

इसप्रकार ज्ञानादि गुणों के अशुद्ध परिणमन में भी विद्यमान व्यक्त आंशिक-शुद्धता, उनका अनुजीवीपना है तथा अवगाहनत्व आदि गुणों के अशुद्ध-परिणमन में उस व्यक्त-शुद्धता का अभाव ही उनका प्रति-

जीवीपना है।

कर्म की अपेक्षा हम इसे इसप्रकार समझ सकते हैं कि जिन गुणों के परिणमन में औदयिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औपशमिक—ये चारों भाव अथवा औपशमिक के विना शेष तीन भाव होते हैं, वे अनुजीवी-गुण हैं तथा जिन गुणों के परिणमन में मात्र औदयिक और क्षायिक—ये दो ही भाव होते हैं, उन्हें प्रतिजीवी-गुण कहते हैं।

प्रश्न २७ : घाति कर्म केवलज्ञानादि गुणों के घात में निमित्त होते हैं—इसमें आए हुए गुण और घात के भाव को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : घाति कर्म केवलज्ञानादि गुणों के घात में निमित्त होते हैं—इसमें आए हुए 'गुण' शब्द का अर्थ गुण नहीं है, वरन् पर्याय है; क्योंकि गुण अनादि-अनंत होने से उनका घात तो कभी भी संभव ही नहीं है। पर्याय को गुण कहने के कारण निम्नलिखित हैं—

१. "गुण्यते पृथक्क्रियते इति गुण:—जिससे पृथक् किया जाता है, वह गुण है।" ।।आलाप पद्धति।। अनादि-अनन्त, एकरूप रहनेवाला द्रव्य, प्रति-समय बदलती पर्यायों के कारण पृथक्-पृथक् दिखाई देता है। वह पृथक्ता/विविधता, पर्यायों के कारण होने से पर्यायों को गुण कहा जाता है।

२. जो षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप हो, उसे गुण कहते हैं। पर्यायों में अगुरुलघुत्व गुण के कारण सतत षट्गुणी हानि-वृद्धि होती रहती है; अत: पर्यायों को गुण कहते हैं।

३. लोक में तथा आगम में भी अच्छी, हितकर पर्यायों को गुण कहा जाता है; जैसे—उदारता आदि गुण, रत्नत्रय गुण आदि।

४. अर्थ पर्यायों को गुण-पर्याय भी कहते हैं। ये सभी अर्थ-पर्यायें होने के कारण इन्हें संक्षेप में गुण कहा गया है।

इत्यादि अनेक कारणों से पर्याय को गुण कहा जाता है; परन्तु इन्हें वास्तविक गुण के समान अनादि-अनंत नहीं मानना; एक समयवर्ती, उत्पाद-व्ययरूप पर्याय ही मानना।

इसप्रकार 'घाति कर्म, केवलज्ञानादि गुणों के घात में निमित्त होते हैं'—का भाव यह है कि वे केवलज्ञानादि शुद्ध पर्यायों के घात में निमित्त होते हैं।

'घात में निमित्त होते हैं'—का भाव यह है कि जब तक इन कर्मों का उदय रहेगा, तब तक ये गुण/शुद्ध-पर्यायें व्यक्त नहीं होंगीं। पर्याय प्रगट होने के बाद, उसका घात करना—घात करने का अर्थ नहीं है।

इसप्रकार निमित्तरूप में जब तक घाति कर्मों का उदय उनकी अपनी स्वतन्त्र योग्यता से विद्यमान है; तब तक नैमित्तिक रूप केवलज्ञानादि शुद्ध-पर्यायें, स्वयं अपनी योग्यता के कारण व्यक्त नहीं होती हैं—ऐसा ही इन दोनों के बीच में सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है; इसे ही 'घाति कर्म केवलज्ञानादि गुणों के घात में निमित्त होते हैं'—ऐसा कहते हैं।

प्रश्न २८ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.ये दोनों गाथाएं जीव और कर्मों के बीच बननेवाले सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कराती हैं। इसका ज्ञान हो जाने पर हम अन्य पदार्थों के प्रति होनेवाले व्यर्थ के राग-द्वेष से बच जाते हैं।

२.सुखादि के घात में निमित्त, ये घाति कर्म हैं। अघाति कर्म या अन्य कोई बाह्य पदार्थ-परिस्थितिआँ नहीं हैं—इस प्रकरण द्वारा यह समझ में आ जाने पर हम सुखादि प्रगट करने के लिए अन्यान्य पदार्थों-परिस्थितिओं को मिलाने या हटाने के निरर्थक प्रयास में नहीं लगेंगे; जिससे जीवन अन्याय, अनीति, अभक्ष्य-भक्षण, असदाचार आदि दुष्प्रवृत्तिओं से रहित होकर न्याय-नीतिमय, सदाचार-सम्पन्न, तनाव-मुक्त, शुद्ध-सात्त्विक हो जाता है।

३.इसी निर्णय के बल पर हम घाति कर्मों को नष्ट करने की दिशा में पुरुषार्थ करेंगे। उन्हें नष्ट करने का उपाय, उनकी ओर देखना या उन्हें नष्ट करना नहीं है; वरन् आत्म-ध्यान है।—यह समझकर जब हम अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही लीन होते हैं; तो इस आत्म-ध्यान के निमित्त से कर्म, अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं; अत: हमें अपनी परिपूर्ण शक्ति, इस कार्य को करने में ही लगाना चाहिए—यह पुरुषार्थ इस प्रकरण को समझने से जागृत होता है।

४.द्रव्य, शुद्धाशुद्ध पर्यायों का पिण्ड है। इस संसार दशा में भी अस्ति-त्वादि अनंत सामान्य गुणों का तो सतत शुद्ध परिणमन है ही; अनुजीवी-गुणों के परिणमन में भी कुछ शुद्धता सतत विद्यमान है; अर्थात् द्रव्य और गुण तो अनादि-अनंत शुद्ध हैं ही; पर्यायों में भी बहुत कुछ शुद्धता विद्यमान है—यह समझ में आ जाने पर यदि हम अशुद्धता को गौणकर शुद्धता के माध्यम से त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव का अवलम्बन लेते हैं, तो विद्यमान अशुद्धता भी नष्ट होकर सर्वांग शुद्धता व्यक्त हो जाती है।

इसे ही समयसार गाथा १८६ में इसप्रकार कहा है—

''सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं, असुद्ध-मेवप्पयं लहदि।।

जो आत्मा को शुद्ध जानता है, वह शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। उसकी पर्याय में भी शुद्धता प्रगट हो जाती है और जो आत्मा को अशुद्ध जानता है, वह अशुद्धात्मा को प्राप्त करता है। उसकी पर्याय में अशुद्धता ही विद्यमान रहती है।''

५.घाति कर्मों के क्षयोपशम से हमें जो भी क्षायोपशमिक भाव ज्ञान, दर्शन, दानादि लब्धिओं रूप सामग्री प्राप्त है; वह कर्म-कृत होने के कारण उस पर हमारा वास्तव में कुछ भी वश नहीं चलता है; अत: उसे सहज स्वीकार करते हुए उसका उपयोग, आत्म-कल्याण-कारी कार्यों में करने का भाव जागृत होता है।

६.इसी जानकारी के बल पर इनके मिलने या नहीं मिलने पर भी घमण्ड, दीनता, हीनता आदि रूप विकृत परिणाम, प्रगट नहीं होते हैं तथा प्रत्येक परिणाम से सतत भेद-ज्ञान करने का भाव, जागृत होता है।

७.अनुजीवी-प्रतिजीवी गुणों का भेद, मात्र परिणमन की अपेक्षा है। मूल स्वभाव में कहीं कोई भेद नहीं है। वह तो सदा एकरूप ही है।—यह समझ में आ जाने पर पर्याय मात्र से अपनत्व नष्ट हो जाता है और स्थाई स्वभाव पर दृष्टि जाती है; जिसका फल सम्यक्रत्नत्रय सम्पन्न अतींद्रिय आनन्दमय जीवन है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न २९ : ११वीं गाथा के माध्यम से आयुष्क कर्म को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उसे बताने वाली यह गाथा इसप्रकार है—

कम्म-कय-मोह-बड्ढिय, संसारम्हि य अणादि-जुत्तम्हि।
जीवस्स अवट्ठाणं, करेदि आऊ हलिव्व णरं।।११।।

द्रव्यकर्म कृत मोह से वर्धित, अनादि कालिक भव-वन में।
हलि नर सम स्थित रखता है, आयु प्राणी को तन में।।११।।

शब्दश: अर्थ : **कम्मकय**=कर्म-कृत (कर्म के निमित्त से व्यक्त हुए) **मोहबड्ढिय**=मोह द्वारा बड़े हुए, **संसारम्हि**=संसार में, **य**=और, **अणादिजुत्तम्हि**=अनादि-कालीन, **जीवस्स**=जीव का, **अवट्ठाणं**= अवस्थान, **करेदि**=करता है, **आऊ**=आयुष्क, **हलि**=हली/काठ के खोड़े के, **व्व/इव**=समान, **णरं**=मनुष्य को ।।११।।

अन्वय : हलि णरं व्व कम्मकयमोहवड्ढिय अणादि-जुत्तम्हि संसारम्हि जीवस्स अवट्ठाणं आऊ करेदि ।

सरलार्थ : जैसे काठ का खोड़ा मनुष्य को अपने में बाँधकर रखता है; उसीप्रकार कर्म-कृत मोह से बड़े हुए अनादि-कालीन संसार में आयुष्क कर्म, जीव का अवस्थान करता है; अर्थात् आयुष्क कर्म के उदय में यह जीव, शरीर में अवस्थित रहता है, शरीर से निकल नहीं पाता है।

स्पष्टीकरण : मोह अर्थात् समस्त विकारी भाव, कर्म-कृत हैं; कर्म के उदय में उत्पन्न होते हैं। यद्यपि वे, जीव में उत्पन्न होते हैं, चिद्विकार हैं; तथापि जीव के स्वाभाविक भाव नहीं हैं, कर्म के उदय में होने से कर्म-कृत कहलाते हैं। उन्हें कर्म-कृत कहने के कुछ कारण निम्न-लिखित हैं—

*१.*जैसे कर्म, जड़ होने से स्व-पर को नहीं जानते हैं; उसीप्रकार मोहादि भाव, श्रद्धा-चारित्र के परिणमन होने से स्व-पर प्रकाशक शक्ति से रहित होने के कारण स्व-पर को नहीं जानते हैं।—इसप्रकार कर्म के समान स्वभाववाले होने से इन्हें कर्म-कृत कहा है।

*२.*जैसे कर्म, पूरण-गलन स्वभावी होने से मिलते-बिछुड़ते रहते हैं, एक-समान नहीं रहते हैं; उसीप्रकार मोहादि भाव भी हीनाधिक होते रहते हैं, कभी भी एक-समान नहीं रहते हैं।—इसप्रकार भी कर्म के समान स्वभाववाले होने से इन्हें कर्म-कृत कहा है।

*३.*मोहादि भावों का अन्वय-व्यतिरेक संबंध कर्म के साथ बनता है। जब-जब मोहादि भाव होते हैं, तब-तब कर्म का उदय नियम से

होता है और जब-जब कर्म का उदय नहीं होता है, तब-तब मोहादि भाव नियम से नहीं होते हैं—इसप्रकार इनका अन्वय-व्यतिरेक संबंध कर्म के साथ होने से इन्हें कर्म-कृत कहा है।

*४.*प्रस्तुत ग्रंथ की छठवीं गाथा के आधार से वास्तव में ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्मों की फलदान क्षमता ही भाव-कर्म है। जीव में होनेवाले मोहादि भाव तो अज्ञानता-वश उनके निमित्त से होने के कारण उपचार से भाव-कर्म कहलाते हैं; इसलिए मोहादि भाव, कर्मकृत हैं।

इत्यादि कारणों से मोहादि भावों को कर्म-कृत कहा जाता है।

'मोह से बड़े हुए अनादि-कालीन संसार में' का भाव यह है कि यद्यपि संसार, एक समयवर्ती पर्याय का नाम है; तथापि यह विकृत दशा, संतान-क्रम की अपेक्षा अनादि से चली आ रही है। इसे आगे बड़ाने में कारण, एक मात्र अपना मोह भाव है; अर्थात् अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से स्वीकार न करके पर-पदार्थों को अपना माननेरूप विपरीत मान्यता से, उन्हें अनुकूल-प्रतिकूल या इष्ट-अनिष्ट मानकर उनके प्रति राग-द्वेष से/इन मिथ्यादर्शन, राग, द्वेषरूप मोह से संसार बड़ रहा है। अन्य किन्हीं भी पर-पदार्थों, संयोगों, परिस्थितिओं, ज्ञान की हीनाधिकता से संसार नहीं बड़ रहा है।

''सन्सरतीति सन्सार:—संसरण/परिवर्तन/परिभ्रमण, संसार है।'' अपने स्वभाव से सरककर/खिसककर/च्युत होकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंच परिवर्तन/परावर्तन के माध्यम से चार गति-चौरासी लाख योनिओं में घूमना ही संसार है। घर, कुटुम्ब आदि वास्तव में संसार नहीं हैं। संसार के बाह्य कारण होने मात्र से उन्हें संसार कहा है।

इस कर्म-कृत मोह से बड़े हुए अनादि-कालीन संसार में जीव का शरीर के साथ अवस्थान रखने में निमित्त, आयुष्क कर्म है।

प्रश्न ३० : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

*१.*मोह परिणाम कर्म-कृत होने से/कर्मोदय के निमित्त में होने से विकारी भाव है, जीव का स्वाभाविक भाव नहीं है; अत: उससे भेद-विज्ञानकर स्वरूप-स्थिरता के बल पर उसे नष्ट करना सुगम है—यह तथ्य इस प्रकरण से समझ में आ जाने पर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ जागृत

होता है।

२.हमारा संसार अर्थात् दु:ख/परिभ्रमण, मात्र मोह से अर्थात् वस्तु-स्वरूप के विरुद्ध श्रद्धान-ज्ञान-आचरण से बड़ रहा है; ज्ञान की हीनाधिकता या अन्य किन्हीं अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों/परिस्थितिओं आदि के कारण नहीं बड़ रहा है—यह समझ में आ जाने पर अपने दु:ख को नष्ट करने के लिए हमारा सम्यक् दिशा में पुरुषार्थ जागृत होता है; अर्थात् हम अन्य सब ओर से अपने उपयोग को हटाकर, वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निर्णयकर, अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिर होने का पुरुषार्थ जागृत करते हैं।

३.इस शरीर के साथ जीव के रहने या नहीं रहने का नियामक कारण, आयुष्क कर्म है; अन्य कोई नहीं—यह समझ में आ जाने पर शरीर को टिकाने के लिए अन्याय, अनीति, अभक्ष्य-भक्षण, असदाचार आदिरूप दुष्प्रवृत्तिआँ नष्ट होकर जीवन शुद्ध, सात्त्विक, सदाचारमय हो जाता है।

४.इसी समझ के बल पर शरीर के प्रति साम्य-भाव हो जाता है। ''लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जाए।''—दोनों ही परिस्थितिओं को सहज स्वीकार करने का भाव जागृत होता है। इसी माध्यम से मरण का भय समाप्त होकर समाधि पूर्वक शरीर छोड़ने का भाव जागृत होता है।

५.सभी संसारी जीवों के शरीर की स्थिति, आयुष्क कर्म के अधीन है। उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर पाना, अन्य किसी के भी वश की बात नहीं है—यह समझ में आ जाने पर गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है।

६.इसी समझ के बल पर मैं किसी को मारूँ या बचाऊँ—ऐसे भावरूप कर्तृत्व बुद्धि आदि; कोई मुझे मार देगा—इस भाव से उत्पन्न भय, दीनता, हीनता, पामरता आदि और कोई मुझे बचा लेगा—इस भाव से उत्पन्न पराधीनता, परमुखापेक्षिता आदि विकृतिआँ नष्ट हो जाती हैं।

७.इसी समझ के बल पर अस्वस्थता आदि की स्थिति में डॉक्टर, वैद्य आदि शरणभूत प्रतीत नहीं होते हैं तथा ''धर्मात्मा निकट हों, चर्चा

धर्म सुनाएं। वे सावधान रक्खें, गाफिल न होने पाऊँ।।'' का भाव व्यक्त होता है।

८.परम्परा की अपेक्षा संसार, अनादि से चला आ रहा है—यह समझ में आ जाने पर संसार को नष्ट करने के लिए अपने अनन्त सामर्थ्य-सम्पन्न भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिर रहने का पुरुषार्थ जागृत होता है।

९.शरीर की स्थिति में निमित्त होने पर भी यह आयुष्क कर्म, अघाति होने के कारण सुख के घात में निमित्त नहीं है। दु:ख का कारण शरीर नहीं; वरन् शरीर संबंधी एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विकारी भाव हैं—यह समझ में आ जाने पर स्वोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा पर-पदार्थों के प्रति एकत्व आदि विकारी भावों को नष्ट कर, शरीर रहते हुए भी हम सुखी हो जाते हैं।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ३१ : १२वीं गाथा के माध्यम से नामकर्म को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उसे बताने वाली वह गाथा इसप्रकार है—

गदि-आदि-जीवभेदं, देहादी-पोग्गलाण भेदं च।
गदियंतर-परिणमनं करेदि णामं अणेयविहं।।१२।।

गति आदि प्राणी के भेद व शरीर आदि पुद्गलभेद।
गत्यंतर परिणति में कारण नामकर्म हैं अनेकभेद।।१२।।

शब्दश: अर्थ : **गदि आदि जीवभेदं**=गति आदि जीव (की दशाओं) के भेद को, **देहादी पोग्गलाण भेदं**=शरीर आदि पुद्गलों के भेद को, **च**=और, **गदियंतरपरिणमनं**=एक गति से दूसरी गतिरूप परिणमन को, **करेदि**=करता है, **णामं**=नामकर्म, **अणेयविहं**=अनेक प्रकार।।१२।।

अन्वय : गदि-आदि-जीव-भेदं देहादी-पोग्गलाण-भेदं च गदियंतर-परिणमनं अणेयविहं णामं करेदि।

सरलार्थ : गति आदि संसारी जीव (की दशाओं) के भेद को, शरीर आदि पुद्गलों के भेद को और एक गति से दूसरी गतिरूप परिणमन को इत्यादि अनेक प्रकार के कार्यों को नामकर्म करता है।

स्पष्टीकरण : ९३ प्रकृतिओं वाला नामकर्म तीन रूपों में कार्य करता

है; अर्थात् उन प्रकृतिओं का उदय तीनरूपों में फलता है; उसे विपाक भी कहते हैं। विशेषरूप से पाक होना/पकना/फल देना, विपाक है। "**विपाकोऽनुभवः—**अनुभागोदय/कर्म की फलदान क्षमता का व्यक्त होना, विपाक है।" ।। तत्त्वार्थसूत्र, अष्टमोऽध्याय, सूत्र २१।। यह विपाक चार रूपों में फलता है—१. पुद्गल विपाक, २. भव विपाक, ३. क्षेत्र विपाक और ४. जीव विपाक। (इनकी विस्तृत चर्चा आगे ४७ से ५१ पर्यन्त ५ गाथाओं द्वारा की गई है।)

१.पुद्गल-विपाक : जिनके उदय का सीधा संबंध शरीरादि पुद्गल के साथ है, उन्हें पुद्गल-विपाक/विपाकी प्रकृतिआँ कहते हैं।

२.भव-विपाक : जिन प्रकृतिओं के उदय का सीधा संबंध भव/जीव और पुद्गल की मिली हुई असमान-जातीय द्रव्य-पर्याय के साथ होता है, उन्हें भव-विपाक/विपाकी प्रकृतिआँ कहते हैं।

३.क्षेत्र-विपाक : जिन प्रकृतिओं के उदय का सीधा संबंध विग्रह-गतिरूप क्षेत्र के साथ होता है, उन्हें क्षेत्र-विपाक/विपाकी प्रकृतिआँ कहते हैं।

४.जीव-विपाक : जिन प्रकृतिओं के उदय का सीधा संबंध जीव के विकारी परिणामों के साथ होता है, उन्हें जीव-विपाक/विपाकी प्रकृतिआँ कहते हैं।

नामकर्म की प्रकृतिओं में पुद्गल, क्षेत्र और जीव—इन तीन विपाक वाली प्रकृतिआँ हैं। आयुष्क-कर्म, भव-विपाकी है तथा शेष ज्ञानावरणादि सभी कर्म, जीव-विपाकी हैं।

जीव-विपाकी प्रकृतिओं का यथा-योग्य निमित्त पाकर जीव में औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव होते हैं; शेष विपाकी प्रकृतिओं के क्षय का निमित्त पाकर जीव में मात्र क्षायिक भाव होता है। उन शेष विपाकी प्रकृतिओं के उदय में शरीरादि संयोग तो मिलते हैं; पर औदयिक भाव नहीं होते हैं।

अनेकानेक औदयिक भावों में से भी मात्र मोहनीय कर्म के उदय का निमित्त पाकर होनेवाले औदयिक भाव ही नवीन कर्म-बंध के कारण होते हैं; अन्य कोई औदयिक भाव, बंध के कारण नहीं हैं।

नामकर्म की ९३ प्रकृतिओं में से ६२ प्रकृतिआँ, पुद्गल-विपाकी;

४ प्रकृतिआँ, क्षेत्र-विपाकी और २७ प्रकृतिआँ, जीव-विपाकी हैं।

प्रश्न ३२ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.नामकर्म की ९३ प्रकृतिओं में से जीव-विपाकी रूप मात्र २७ प्रकृतिओं के उदय का सीधा संबंध जीव के परिणामों के साथ है। यद्यपि इसमें उन संबंधी औदयिक भाव होते हैं; तथापि वे नवीन कर्म-बंध के कारण नहीं हैं।—यह समझ में आ जाने पर उन्हें लक्ष्यकर दीनता, हीनता, पामरता, अकड़, घमण्ड आदि भाव उत्पन्न नहीं होते हैं तथा उन सभी से सतत भेद-विज्ञान करते रहने का भाव जागृत होता है।

२.शरीर संबंधी सम्पूर्ण व्यवस्था का नियामक कारण, नामकर्म है। काला-गोरा, मोटा-पतला, बलवान-कमजोर, सुरूप-कुरूप, स्वस्थ-अस्वस्थ आदि सभी शारीरिक अवस्थाएँ नामकर्म के उदय में होनेवाली दशाएँ हैं। इनमें हमारा कुछ भी वश नहीं चलता है—यह समझ में आ जाने पर उन्हें सहज स्वीकारकर, उनसे सतत भेद-ज्ञान करते रहने का भाव जागृत होता है।

३.इसी समझ के बल पर उनमें परिवर्तन करने का भाव नष्ट हो जाता है; जिससे अन्याय, अनीति, अभक्ष्य-भक्षण, असदाचार आदि दुष्प्रवृत्तिओं से बचकर जीवन सहज शुद्ध, सात्त्विक सदाचार-सम्पन्न हो जाता है तथा समय, शक्ति, धन, उपयोग आदि के दुरुपयोग से बचकर, इन सभी का आत्म-कल्याण-कारी कार्यों में उपयोग करने का भाव जागृत होता है।

४.पुराने शरीर को छोड़कर नवीन शरीर प्राप्त करने की पूर्ण सुव्यवस्थित व्यवस्था, नामकर्म के उदय में होती है—यह समझ में आ जाने पर देहावसान के पश्चात् नवीन देह-प्राप्ति को लेकर चलनेवाली कपोल-कल्पित धारणाओं को हम स्वीकार नहीं करते हैं; जिससे तत्संबंधी गृहीत मिथ्यात्व से तो बचते ही हैं; साथ ही अन्यान्य समस्याओं से भी बच जाते हैं।

५.नामकर्म की पुद्गल-विपाकी प्रकृतिओं के उदय में होनेवाली शरीर की किसी भी दशा का संबंध बुद्धि, विवेक, धर्म आदि के साथ नहीं है—यह समझ में आ जाने पर प्राप्त सामग्री को सहज स्वीकार

कर आत्म-कल्याण-कारी कार्यों में उसका उपयोग करने का भाव जागृत होता है।
६.इसी समझ के बल पर उन्हें सहज स्वीकारकर; उनके प्रति राग, द्वेषादि न कर, सतत भेद-ज्ञान करने का भाव जागृत होता है। जिसके फल में जीवन समस्त विकारों से रहित सुख-शान्तिमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ३३ : १३वीं गाथा के आधार पर गोत्रकर्म को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उसे बताने वाली वह गाथा इसप्रकार है—

संताणकमेणागय-जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं, उच्चं णीचं हवे गोदं।।१३।।
परम्परा से आई जीव प्रवृत्ति की है संज्ञा गोत्र।
उच्च प्रवृत्ति उच्च गोत्र है नीच प्रवृत्ति नीचा गोत्र।।१३।।

शब्दश: अर्थ : **संताणकमेणागय**=संतान/परम्परा क्रम से आए, **जीव+आयरणस्स**=जीव के आचरण की, **गोदं**=गोत्र, **इदि**=ऐसी, **सण्णा**=संज्ञा/नाम है, **उच्चं**=उच्च, **णीचं**=नीच, **चरणं**=आचरण/ प्रवृत्ति, **उच्चं**=उच्च, **णीचं**=नीच, **हवे**=है, **गोदं**=गोत्र ।।१३।।

अन्वय : संताणकमेण आगय जीव आयरणस्स गोदं इदि सण्णा उच्चं चरणं उच्चं गोदं हवे णीचं चरणं णीचं गोदं हवे।

सरलार्थ : संतान क्रम से आए जीव के आचरण को गोत्र कहते हैं। उच्च आचरण, उच्च गोत्र है; नीच आचरण, नीच गोत्र है। (इसमें निमित्त होनेवाला कर्म, गोत्र-कर्म है।)

स्पष्टीकरण : यहाँ 'संतान क्रम से आए' का भाव शारीरिक पीढ़िआँ न होकर भव-परम्परा है। शारीरिक पीढ़िओं अर्थात् वर्तमान में प्रचलित माता-पिता के गोत्र से इस गोत्र-कर्म का संबंध मानने पर निम्नलिखित समस्याएं उपस्थित होती हैं—
१.एकेंद्रियादि सम्मूर्छन तिर्यंचों, सम्मूर्छन मनुष्यों, भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यंचों, विदेह क्षेत्रस्थ मनुष्य-तिर्यंचों, हुण्डावसर्पिणी काल के अतिरिक्त शेष कालों, देव, नारकिओं में वर्तमान प्रचलित गोत्र-परम्परा नहीं होने से, इन सभी को गोत्र-कर्म से रहित मानने का प्रसंग आएगा; जो कि आगम आदि प्रमाणों से विरुद्ध है।

२.जिनागम में चतुर्गति संबंधी एक सौ साड़े ९७ लाख करोड़ या एक सौ साड़े ९९ लाख करोड़ कुल माने गए हैं; जो माता-पिता के गोत्रानुसार मानने पर सम्भव नहीं हैं।
३.एक ही गोत्र में एक ही माता-पिता से उत्पन्न हुई सन्तान अपने-अपने परिणामों के अनुसार पृथक्-पृथक् गति प्राप्त करती है।
४.वर्तमान प्रचलित गोत्रों में से अधिकांश तो क्षेत्राधार पर ही निर्मित हैं; शेष व्यापार आदि के आधार पर निर्मित होने से ये सभी स्थाई नहीं हैं।

इसप्रकार विचार करने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि 'सन्तान-क्रम से आए' का भाव वर्तमान प्रचलित गोत्रादि रूप सन्तान-क्रम नहीं है; वरन् पूर्व भव से आए जीव के संस्कारों से है।

प्रश्न ३४ : सभी अपने-अपने आचरण को उच्च आचरण कहते होने से, उच्च या नीच आचरण का निर्णय कैसे करें ?

उत्तर : जो आचरण, प्रवृत्तिआँ या संस्कार, लौकिक और धार्मिक जीवन को निराकुल बनाने में सहायक हैं, शारीरिक-स्वास्थ्य-वर्धक हैं, आगामी सुख-शान्ति के कारण हैं तथा व्यर्थ के विसंवाद में नहीं उलझाते हैं, वे उच्च गोत्र कहलाते हैं।

इससे विपरीत जो आचरण, प्रवृत्तिआँ या संस्कार, लौकिक और धार्मिक जीवन को आकुलतामय बनाने में सहायक हैं, शारीरिक-स्वास्थ्य के लिए हानि-कारक हैं, आगामी क्लेश के कारण हैं तथा व्यर्थ के विसंवाद में उलझाने वाले हैं, वे नीच गोत्र कहलाते हैं।

इनमें निमित्त होनेवाला कर्म, गोत्र-कर्म है। आचरण के अनुसार उसके भी उच्च और नीच—ये दो भेद हैं।

प्रश्न ३५ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं-
१.वर्तमान-मान्य उच्च-कुल में उत्पन्न होने से कोई उच्च नहीं हो जाता है; इसीप्रकार वर्तमान-मान्य नीच-कुल में उत्पन्न होने से कोई नीच नहीं हो जाता है––यह समझ में आ जाने से जन्म के आधार पर होनेवाले घमण्ड या दीनता, हीनता, पामरतारूप व्यर्थ के राग-द्वेषमय परिणाम नष्ट होकर, जीवन में सहज समता-भाव जागृत होता है।

२.उच्च-संस्कारों का फल स्वर्ग-मोक्ष और नीच-संस्कारों का फल नरक-निगोद है। यह समझ में आ जाने पर अपने सत्-स्वभावी आत्मा के आश्रय से अपने आचरण, प्रवृत्तिओं, संस्कारों को उच्च बनाने का भाव जागृत होता है।
३.गोत्र का संबंध माता-पिता आदि से नहीं है—यह समझ में आ जाने पर तत्संबंधी संकुचित वृत्तिआँ/प्रवृत्तिआँ नष्ट हो जाती हैं; जिससे गृहीत मिथ्यात्व तो नष्ट होता ही है; साथ ही सामाजिक विषमताएं भी नष्ट होकर सहज समानता का वातावरण हो जाता है।
४.इसी आधार पर 'सादा जीवन, उच्च विचार' की सूक्ति को जीवन में चरितार्थ करने की भावना जागृत होती है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ३६ : गाथा १४वीं के आधार से वेदनीय कर्म को स्पष्ट कीजिए?
उत्तर : उसे बताने वाली वह गाथा इसप्रकार है—

अक्खाणं अणुभवणं, वेयणियं सुहसरूवयं सादं।
दुक्ख-सरूव-मसादं, तं वेदयदीदि वेदणियं।।१४।।
इंद्रिय विषयों का अनुभव, सुखरूप कहा साता वेदन।
दु:खस्वरूप असाता वेदन, वेदनीय का भेद कथन।।१४।।

शब्दश: अर्थ : **अक्खाणं**=पंचेंद्रिय विषयों का, **अणुभवणं**=अनुभवन, **वेयणियं**=वेदनीय, **सुहसरूवयं**=सुख-स्वरूप, **सादं**=साता, **दुक्खसरूवं**=दु:ख-स्वरूप, **असादं**=असाता, **तं**=उसे, **वेदयदि**=वेदता है, **इदि**=ऐसा, **वेदणियं**=वेदनीय।।१४।।
अन्वय : अक्खाणं सुहसरूवयं अणुभवणं सादं वेयणियं अक्खाणं दुक्खसरूवं अणुभवणं असादं वेयणियं तं वेदयदि इदि वेदणियं।
सरलार्थ : पंचेंद्रिय विषयों का अनुभवन, वेदनीय है। सुख-स्वरूप/आकुलता की कुछ हीनतारूप वेदन, साता-वेदनीय तथा दु:ख-स्वरूप/आकुलतारूप वेदन, असाता-वेदनीय कहलाता है। (इनमें निमित्त बननेवाला कर्म, वेदनीय-कर्म है।)
स्पष्टीकरण : वेदनीय-कर्म, जीव-विपाकी या कथंचित् पुद्गल-विपाकी प्रकृति होने से वास्तव में इसका संबंध बाह्य सामग्री से नहीं, वरन् जीव के अपने परिणामों या कथंचित् शरीर से है। क्षेत्र से क्षेत्रान्तर

होते हुए अपनी-अपनी योग्यतानुसार कर्मों के नोकर्मरूप में जो भी सामग्री अपने संयोग में आती है, जो भी परिस्थिति बनती है, उसमें इष्ट या अनुकूल वेदन में निमित्त होनेवाला कर्म, साता-वेदनीय तथा अनिष्ट या प्रतिकूल वेदन में निमित्त होनेवाला कर्म, असाता-वेदनीय है।

इस कर्म का सीधा संबंध, बाह्य सामग्री से जोड़ने पर अर्थात् इस कर्म के उदय में बाह्य सामग्री मिलती है—ऐसा मानने पर अनेकों प्रश्न उपस्थित होते हैं; जिनका उत्तर हमारे पास नहीं है। उनमें से कुछ अनुत्तरित प्रश्न निम्नलिखित हैं—
१.किसी विशिष्ट क्षेत्र में हमारे जाने से पूर्व भी वही सामग्री विद्यमान थी, अभी है और वहाँ से हमारी वापसी के बाद भी वही सामग्री बनी रहती है; उसकी विद्यमानता में किसके कर्म का उदय कारण माना जाए ?
२.कोई एक विशिष्ट-सामग्री एक ही क्षण में किसी एक को अनुकूल तथा किसी अन्य को प्रतिकूल प्रतीत होती है; ऐसी स्थिति में उस सामग्री को किसके कर्मोदय से प्राप्त हुई माना जाए ?
३.कोई एक विशिष्ट-सामग्री किसी एक व्यक्ति को ही कभी अनुकूल प्रतीत होती है और कभी प्रतिकूल; तब फिर उस सामग्री की प्राप्ति किस कर्म के उदय से हुई मानी जाए ?
४.चक्रवर्ती भी मुनि-दीक्षा लेते समय समस्त सामग्रिओं का त्यागकर पूर्ण निर्ग्रन्थ हो जाते हैं; इस समय क्या उनके असाता का उदय मान लिया जाए ?
५.स्वर्गादि में उत्तरोत्तर बाह्य परिग्रह कम होता जाता है और इंद्रिय-जन्य सुख बड़ता जाता है—इसका कारण क्या है ?
६.समस्त सामग्रिआँ, आहार-वर्गणा के कार्य हैं और वेदनीय कर्म, कार्मण-वर्गणा का कार्य है; दोनों में पारस्परिक अन्योन्याभाव है; तब फिर कर्म के उदय में सामग्री कैसे मिल सकती है ?
७.घर-परिवार के किसी एक सदस्य का देहावसान हो जाने पर भी उसके द्वारा अर्जित सामग्रिआँ यहीं रह जातीं हैं; तो क्या उसके पुण्य-पाप यहीं रह गए हैं ? क्या किसी एक के पुण्य-पाप, दूसरे को भोगने के लिए यहीं रह जाते हैं ?

इत्यादि अनेकानेक तथ्यों से यह स्पष्ट है कि वास्तव में किसी

विशिष्ट वस्तु या परिस्थिति का प्राप्त होना, वेदनीय कर्म का कार्य नहीं है; वरन् वह अनुकूल-प्रतिकूल लगना, वेदनीय कर्म का कार्य है। अपनी-अपनी योग्यतानुसार एकत्रित हुई वस्तुएं या बनी हुई परिस्थितिआँ तो वेदनीय कर्म की नोकर्म हैं। उनके साथ जीव और कर्म का निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने के कारण, मात्र उपचार से वे वेदनीय कर्म का कार्य कह दी जाती हैं। वास्तव में तो असमान-जातीय द्रव्य-पर्याय के अतिरिक्त कोई भी बाह्य पदार्थ, कर्म के उदय में प्राप्त नहीं होता है।

प्रश्न ३७ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.साता-असाता के वेदन का संबंध वस्तुओं या परिस्थितिओं के साथ नहीं है—यह समझ में आ जाने पर उन्हें मिलाने या हटाने संबंधी हमारे निरर्थक प्रयास समाप्त हो जाते हैं। जिससे अन्याय, अनीति, असदाचार आदि रूप दुष्प्रवृत्तिआँ नष्ट होकर जीवन शुद्ध, सात्त्विक, सदाचारमय हो जाता है।

२.इसी आधार पर, पर-पदार्थों का अधिकाधिक संग्रह करने की बुद्धि नष्ट हो जाती है तथा 'सन्तोषी सदा सुखी' की सूक्ति जीवन में चरितार्थ होने लगती है।

३.इसी समझ के बल पर स्वयं का तथा अन्य का, संयोगों या परिस्थितिओं से निरीक्षण करने का परिणाम नहीं रहता है; जिससे दीनता, हीनता, घमण्ड आदि विकृत परिणाम नष्ट होकर जीवन सहज समतामय हो जाता है।

४.वास्तव में कोई असाता के उदय से पापी या साता के उदय से पुण्यात्मा नहीं होता है; वरन् पाप-परिणामों से पापी, पुण्य-परिणामों से पुण्यात्मा तथा धर्मरूप से परिणत होने पर ही धर्मात्मा होता है—यह समझ में आ जाने पर पर-पदार्थों से दृष्टि हटाकर स्वयं को धर्मात्मा, पुण्यात्मा बनाने का पुरुषार्थ जागृत होता है।

५.इसी आधार पर सामग्री या परिस्थिति को परिवर्तित करने की दिशा में प्रयास नहीं कर हम स्वयं की मन:स्थिति या चिंतन धारा को ही बदलने का प्रयास करते हैं; जिससे जीवन सहज सुख-शान्तिमय

हो जाता है।

६.पुण्य-प्रकतिआँ, सदैव पाप-प्रकृतिओं के साथ ही बँधती हैं, अघाति कर्म, घाति कर्म के साथ ही बँधते हैं; अत: साता की कामना एक प्रकार से पाप की ही कामना है—यह समझ में आ जाने पर साता-असाता—दोनों के प्रति सम-भाव होकर, उनसे भेद-ज्ञान करते हुए स्वरूप-स्थिरता की भावना जागृत होती है।

७.वास्तव में तो वेदनीय-कर्म, मोहनीय के बल पर ही कार्य करने में सक्षम है। तीव्र साता-असाता का उदय होने पर भी मोह के अभाव में सामग्री आदि किंचित् भी अनुकूल-प्रतिकूल प्रतीत नहीं होती है। मोह की हीनाधिकता के अनुसार सामग्री आदि भी हीनाधिक ही अनुकूल-प्रतिकूल प्रतीत होती है। तदनुसार हम भी सुखी-दुखी होते हैं—यह समझ में आ जाने पर हम सुखी होने के लिए सामग्री आदि में परिवर्तन न कर, मोह को ही नष्ट करने के लिए वस्तु-स्वरूप का यथार्थ निर्णयकर स्वरूप-रमणता का पुरुषार्थ करते हैं; जिससे जीवन अतींद्रिय आनन्दमय हो जाता है। भूमिकानुसार योग्यता पाकर संयोग भी बदल जाते हैं।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ३८ : पंद्रहवीं गाथा का भाव लिखते हुए सप्तभंगी का स्वरूप बताकर सम्यक्त्व प्रगट होने में उसकी भूमिका स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : वह गाथा इसप्रकार है—

अत्थं देक्खिय जाणदि, पच्छा सद्दहदि सत्तभंगीहिं।
इदि दंसणं च णाणं, सम्मत्तं होंति जीव गुणा।।१५।।
अर्थ देखकर जाने, पीछे सप्तभंग से हो श्रद्धान।
यों दर्शन अरु ज्ञान पुन: सम्यक्त्व प्रगट हो धर्म महान।।१५।।

शब्दश: अर्थ : **अत्थं**=पदार्थ को, **देक्खिय**=देखकर/सत्ता का सामान्य अवलोकन कर/दर्शनोपयोग पूर्वक, **जाणदि**=जानता है, **पच्छा**=उसके बाद, **सद्दहदि**=श्रद्धान करता है, **सत्तभंगीहिं**=सप्तभंगी द्वारा, **इदि**=इसप्रकार, **दंसणं**=दर्शन, **च**=और, **णाणं**=ज्ञान, **सम्मत्तं**= सम्यक्त्व, **होंति**=होते हैं, **जीवगुणा**=जीव के गुण।।१५।।

अन्वय : अत्थं देक्खिय जाणदि पच्छा सत्तभंगीहिं सद्दहदि इदि

दंसणं णाणं च सम्मत्तं जीवगुणा होंति।

सरलार्थ : छद्मस्थ जीव, पदार्थ को देखकर जानता है। तत्पश्चात् सप्तभंगी के माध्यम से पदार्थ का निर्णयकर, उसका श्रद्धान करता है—इसप्रकार दर्शन, ज्ञान और सम्यक्त्व जीव के गुण हैं।

स्पष्टीकरण : सम्यक्त्व प्रगट होने की प्रक्रिया में छद्मस्थ जीव को सर्व-प्रथम पदार्थ का सामान्य अवलोकनरूप दर्शनोपयोग होता है। तदनन्तर वह उसे जानता है। तदुपरांत सप्तभंगी के माध्यम से पदार्थ का सर्वांगीण निर्णयकर अपनत्व या परत्वरूप में उसका श्रद्धान करता है।

सप्तभंगी : "**सप्तानां भंगानां समाहार: सप्तभंगी**—सात भंगों का समूह, सप्तभंगी है।" स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य—ये सात भंग हैं।

प्रत्येक वस्तु अनन्त-गुणों की अखण्ड पिण्ड है; परस्पर विरुद्ध जैसे प्रतीत होनेवाले अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य आदि अनन्त धर्म-युगलों की समूह होने से अनेकान्तात्मक है। इस अनन्त धर्मात्मक/ अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन करने की शैली/स्याद्वाद-शैली की विनियोग परिपाटी/क्रियान्वयन-पद्धति, सप्तभंगी है। यह सप्तभंगी, जिनवाणी का ट्रेडमार्क है।

परस्पर विरुद्ध-जैसे प्रतीत नहीं होनेवाले अनन्त-गुणों/शक्तिओं /स्वभावों का प्रत्येक वस्तु में विद्यमान रहना, सभी को सहज स्वीकृत है; परन्तु परस्पर विरुद्ध-जैसे प्रतीत होनेवाले अनन्त धर्म-युगलों का एक साथ प्रत्येक वस्तु में रहना, स्याद्वादी के अतिरिक्त अन्य कोई स्वीकार नहीं कर पाता है। स्याद्वाद में आया 'स्यात्' पद शायद, सम्भावना, संशय का सूचक नहीं है; वरन् सुनिश्चित, सुव्यवस्थित, विद्यमान अन्य धर्मों की सत्ता की स्वीकृति का सूचक है।

वस्तु में प्रत्येक धर्म एक-समान अस्तित्व-सम्पन्न होने पर भी, एक साथ ज्ञान में ज्ञात होने पर भी, वाणी में सभी को एक साथ कहने की क्षमता नहीं होने से हम अपने प्रयोजन-वश उनमें से किसी एक को कहते हैं; परन्तु उस एक के कथन से कोई, उस वस्तु को उस एक धर्मात्मक ही नहीं मान ले, एतदर्थ अन्य धर्मों की सत्ता बताने के लिए उस

विवक्षित एक धर्म के साथ 'स्यात्' पद का प्रयोग कर देते हैं। जैसे—स्यात् अस्ति—इसमें यद्यपि 'अस्ति' धर्म की मुख्यता से वस्तु का कथन किया जा रहा है; तथापि 'स्यात्' पद द्वारा अन्य विद्यमान सभी धर्मों को भी स्वीकृत कर लिया गया है।—इसप्रकार यहाँ 'स्यात्' पद 'चाहिए' वाचक तिड़न्त नहीं है; वरन् अव्यय या निपातरूप में प्रस्तुत है; जिसका अर्थ है—कथंचित्/किसी अपेक्षा से।

सप्तभंगी का स्वरूप : किसी भी धर्म-युगल संबंधी प्रत्येक वस्तु में सात ही दृष्टिकोण विद्यमान होने से, उन्हें जानने के लिए सात प्रकार की जिज्ञासाएं उत्पन्न होती हैं। तदनुसार उत्पन्न हुए सात प्रश्नों के उत्तर रूप में प्रत्येक धर्म-युगल संबंधी सात-सात भंग हो जाते हैं; जिन्हें सप्तभंगी कहते हैं। इसप्रकार प्रत्येक धर्म-युगल संबंधी एक-एक सप्तभंगी की अपेक्षा अनंत धर्म-युगलमय प्रत्येक वस्तु में अनंत सप्तभंगिआँ हो जाती हैं।

छद्मस्थ जीवों को अनंत धर्मात्मक वस्तु, प्रमाण और नय द्वारा ज्ञात होती है। प्रमाण द्वारा सम्पूर्ण वस्तु ज्ञात हो जाने पर भी, अल्प-ज्ञान के कारण उस जानकारी में पूर्ण स्पष्टता की कमी होने से; अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए स्पष्ट जानकारी-हेतु वे उसे, अन्य धर्मों को गौण कर, एक-एक धर्म की मुख्यता से जानते हैं। इसप्रकार मुख्य-गौण व्यवस्था पूर्वक एक-एक धर्म द्वारा वस्तु की जानकारी करने से, उस वस्तु का परिपूर्ण स्वरूप, ज्ञान में अत्यंत स्पष्ट हो जाता है। इस जानने की पद्धति को नय कहते हैं।

इस प्रमाण और नयरूप स्याद्वाद-शैली की विनियोग-परिपाटी ही सप्तभंगी होने से, उसके भी इन दोनों की अपेक्षा प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी—ये दो भेद हो जाते हैं। 'स्यात्' शब्द द्वारा अन्य सभी धर्मों को स्वीकृत करते हुए किसी एक धर्म द्वारा समग्र वस्तु का प्रतिपादन करनेवाली कथन-शैली, प्रमाण-सप्तभंगी है। जैसे—'जीव: स्यादस्ति/जीव, कथंचित् है'। इसमें स्यात् शब्द द्वारा अन्य सभी धर्मों को स्वीकार कर 'अस्ति/है' धर्म से समग्र जीव वस्तु का प्रतिपादन किया गया है।

स्यात् शब्द द्वारा अन्य धर्मों को स्वीकार कर किसी एक

विवक्षित धर्म की मुख्यता से, उसकी अपेक्षा स्पष्ट करते हुए वस्तु का निरूपण करना, नय सप्तभंगी है। जैसे—'जीव: स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावा-पेक्षया अस्त्येव/जीव, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा है ही।' यहाँ अपेक्षा द्वारा अन्य धर्मों की सत्ता स्वीकार कर, विवक्षित अस्ति धर्म की मुख्यता से वस्तु का निरूपण किया गया है।

सप्तभंगी में प्रयुक्त होनेवाले कुछ भंग, संयोगी प्रतीत होने पर भी वास्तव में वे संयोगी नहीं हैं, वरन् स्वतन्त्र धर्मरूप हैं। किसी भी वस्तु के संबंध में मूलतया तो दो ही विकल्प उत्पन्न होते हैं—वक्तव्य/कहे जाने-योग्य और अवक्तव्य/नहीं कहे जाने-योग्य। वक्तव्य के संबंध में तीन तथ्य हैं—स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति और स्यात् अस्ति-नास्ति अर्थात् वस्तु का कथंचित् अस्तित्व कह सकते हैं, कथंचित् नास्तित्व कह सकते हैं और कथंचित् क्रमश: अस्तित्व-नास्तित्व कह सकते हैं।

अवक्तव्य संबंधी भी चार तथ्य हैं—स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य और स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य अर्थात् दो धर्मों को एक साथ नहीं कह सकने की अपेक्षा वस्तु के संबंध में कथंचित् कुछ नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि वह अनुभव-गम्य है। कथंचित् अस्तित्व कह देने पर भी उसके साथ शेष धर्म नहीं कह सकते हैं अथवा वस्तु का वास्तविक अस्तित्व भी कथंचित् नहीं कह सकते हैं; क्योंकि वह अनुभव-गम्य है।

कथंचित् नास्तित्व कह देने पर भी उसके साथ शेष धर्म नहीं कह सकते हैं अथवा वस्तु का वास्तविक नास्तित्व भी कथंचित् नहीं कह सकते हैं; क्योंकि वह अनुभव-गम्य है। इसीप्रकार कथंचित् अस्तित्व-नास्तित्व कह देने पर भी उसके साथ शेष धर्म नहीं कह सकते हैं अथवा वस्तु का वास्तविक अस्तित्व-नास्तित्व भी कथंचित् नहीं कह सकते हैं; क्योंकि वह अनुभव-गम्य है।

इसप्रकार वक्तव्य और अवक्तव्य के माध्यम से वस्तु का स्वरूप समझाकर ये सातों भंग सदैव अनुभव की प्रेरणा देते हैं।

अस्ति-नास्ति के समान ही नित्य-अनित्य, एक-अनेक, तत्-अतत् आदि अनन्त धर्म-युगलों पर भी सप्तभंगी घटित होती है।

वस्तु में प्रत्येक धर्म-युगल संबंधी सात-सात भंग पृथक्-पृथक् रूप में विद्यमान हैं—इसप्रकार प्रत्येक वस्तु अनंत सप्तभंगी-संपन्न है।

सप्तभंगी का महत्त्व : समस्त वाद-विवादों/कलहों/लड़ाई-झगड़ों/द्वन्द्वों/तनावों का एक मात्र मूल कारण एकान्त-पक्ष का दुराग्रह/हठाग्रह/समग्रता का अस्वीकार है। स्याद्वादात्मक सप्तभंगी इसका निराकरण करने में पूर्णतया सक्षम होने से, इस सप्तभंगी द्वारा वस्तु का यथार्थ निर्णय कर हम समस्त विवादों से मुक्त हो परम सुखी हो जाते हैं। आचार्य अमृतचंद्र इसका महत्त्व बताते हुए प्रवचनसार ग्रंथ की ११५वीं गाथा की उत्थानिका में लिखते हैं—

"**सर्वविप्रतिषेधनिषेधिकां सप्तभंगीमवतारयति—**समस्त विरोधों को दूर करनेवाली सप्तभंगी का अवतार होता है।"

यहीं अपनी तत्त्व-दीपिका टीका में सात भंगों की चर्चा करते हुए समापन में वे लिखते हैं—"....**अनन्तधर्मणो द्रव्यस्यैकैकं धर्ममाश्रित्य विवक्षिताविवक्षितविधिप्रतिषेधाभ्यामवतरन्ती सप्तभंगिकैवकारविश्रान्तमश्रान्तसमुच्चार्यमाणस्यात्कारामोघ-मंत्रपदेन समस्तमपि विप्रतिषेधविषमोहमुदस्यति—**अनन्त धर्मों वाले द्रव्य के एक-एक धर्म का आश्रयकर विवक्षित-अविवक्षित के विधि-निषेध द्वारा प्रगट होनेवाली सप्तभंगी सतत सम्यक्तया उच्चारित करने पर स्यात्काररूपी अमोघ-मंत्र पद द्वारा एवकार में रहनेवाले समस्त विरोध-विष के मोह को दूर करती है।"

आचार्य जयसेन इसका महत्त्व बताते हुए यहीं इसी गाथा की उत्थानिका में इसे इसप्रकार व्यक्त करते हैं—"**अथ समस्त-दुर्नयै-कान्तरूपविवादनिषेधिकां नयसप्तभंगीं विस्तारयति—**अब, समस्त दुर्नयमय एकांतरूप विवाद का निषेध करनेवाली नय सप्तभंगी का विस्तार होता है।"

जैसे मक्खन प्राप्त करने के लिए दही को मथनेवाली महिला डोरी के एक सिरे को आगे खींचती हुई और दूसरे सिरे को पीछे की ओर ढीला रखती हुई यदि मथानी के माध्यम से दही मथती है तो मटकी सुरक्षित रखते हुए मक्खन प्राप्त कर लेती है। इससे विपरीत प्रवर्तन करने पर अर्थात् डोरी के दोनों सिरों को मात्र ढीला रखने पर

या मात्र खींचने पर मटकी फूट जाती है तथा मक्खन प्राप्त किए विना ही दही भी व्यर्थ हो जाता है।

उसीप्रकार अतींद्रिय आनन्द प्राप्त करने का इच्छुक जीव, तत्त्व-निर्णय करने के लिए जब वस्तु में विद्यमान अनन्त धर्मों को स्यात् पद के माध्यम से स्वीकार करता हुआ, उन्हें गौण करके अन्य धर्म को मुख्य कर अपनी बुद्धि द्वारा तत्त्व का निर्णय करता है, तो क्रमशः बड़ते-बड़ते स्वरूप-स्थिरतामय अतींद्रिय आनन्द-सम्पन्न दशा प्राप्त कर लेता है।

इसप्रकार 'स्यात्/कथंचित्/किसी अपेक्षा/भी' के द्वारा सुनिश्चित विद्यमान सभी अनुक्त धर्मों को स्वीकृत कर 'एव/ही' के द्वारा कहे गए धर्म को दृढ़ता प्रदान करते हुए प्रमाण-नयात्मक सप्तभंगी द्वारा, पर से पूर्णतया भिन्न, अपने से पूर्णतया अभिन्न अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा के स्वानुभव-गम्य स्वरूप का यदि निर्णय करता है तो यह जीव, भेद-विज्ञान पूर्वक अन्तरोन्मुखी तीव्र पुरुषार्थ के बल पर स्वयं को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसमें रमणतामय/तृप्ति/संतुष्टि/अतींद्रिय आनन्दमय स्वानुभव दशा प्रगट कर लेता है; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न अवस्था प्राप्त कर लेता है; इसलिए यहाँ सप्तभंगी से तत्त्व का निर्णय करने के लिए कहा गया है।

इसप्रकार सम्यक्त्व प्रगट होने की प्रक्रिया में दर्शन, ज्ञान, सम्यक्त्व—इस क्रम से जीव के गुण/जीव की पर्यायें सिद्ध हुईं।

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के क्रम का सहेतुक औचित्य सिद्ध करनेवाले १६ से २०—पाँच गाथाओं वाले प्रकरण की भूमिका के रूप में यह गाथा प्रस्तुत हुई है; अत: अब, अहेतुवाद आगम में भी हेतुवाद शैली से लिखा गया वह प्रकरण प्रारम्भ होता है—

प्रश्न ३९ : १६वीं से २०वीं पर्यंत ५ गाथाओं के माध्यम से कर्मों के क्रम का औचित्य स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उसे बताने वाली वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

अब्भरहिदादु पुव्वं, णाणं तत्तो हि दंसणं होदि।
सम्मत्तमदो विरियं, जीवाजीव-गदमिदि चरिमे।।१६।।

घादीवि अघादिं वा, णिस्सेसं घादणे असक्कादो।
णामतियणिमित्तादो, विग्घं पडिदं अघादिचरिमम्हि।।१७।।
आउबलेण अवट्ठिदि, भवस्स इदि णाममाउपुव्वं तु।
भवमस्सिय-णीचुच्चं, इदि गोदं णाम-पुव्वं तु।।१८।।
घादिंव वेयणीयं, मोहस्स बलेण घाददे जीवं।
इदि घादीणं मज्झे, मोहस्सादिम्हि पढिदं तु।।१९।।
णाणस्स दंसणस्स य, आवरणं वेयणीय-मोहणियं।
आउग-णामं गोदंतरायमिदि पढिद-मिदि सिद्धं।।२०।।

अभ्यर्हित होने से पहले ज्ञान बाद में दर्शन को।
फिर सम्यक्त्व, अजीव जीव में होने से फिर शक्ति को।।१६।।
घाती है पर अघातिया सम, पूर्णघात में नहीं समर्थ।
नाम, गोत्र, वेदन निमित्त से, विघ्न करण में हुआ समर्थ।
अत: रखा है अघातिया के अन्त सदा मानो कमजोर।
अन्तराय सम्पूर्ण देशघाति इससे न चलता जोर।।१७।।
आयुबल से भव की स्थिति, अत: नाम आयु पूर्वक।
भव आश्रय से ऊँचा-नीचा जानो गोत्र नाम पूर्वक।।१८।।
मोहाश्रय पा वेदनीय भी, घाती सम घाते सुख को।
अत: घाति के मध्य, मोह के पूर्व सदा जानो उसको।।१९।।
ज्ञानावरण दर्शनावरणी, वेदनीय मोहनीय भी।
आयुष्क नाम रु गोत्र और अंतराय पाठ यों सिद्धि ही।।२०।।

शब्दशः अर्थ : **अब्भरहिदादु**=अभ्यर्हित/पूज्य होने से वास्तव में, **पुव्वं**=पहले/सर्व-प्रथम, **णाणं**=ज्ञान को, **तत्तो**=उसके बाद, **हि**=वास्तव में, **दंसणं**=दर्शन, **होदि**=होता है/रखा जाता है; **सम्मत्तं+अदो** =सम्यक्त्व को, उसके बाद; **विरियं**=वीर्य, **जीव+अजीव+गदं**=जीव-अजीवगत/जीव-अजीव—सभी में पाया जानेवाला, **इदि**=इसलिए, **चरिमे**=अंत में।।१६।।

घादी+वि=घाति होने पर भी, **अघादि**=अघाति के, **वा**=समान, **णिस्सेसं**=पूर्णरूप से, **घादणे**=घात करने में, **असक्कादो**=असमर्थ होने के कारण, **णामतियणिमित्तादो**=नाम-गोत्र-वेदनीय—इन तीन के निमित्त से, **विग्घं**=विघ्न/अंतराय कर्म को, **पडिदं**=पढ़ा है/रखा है,

अघादि=अघाति के, **चरिमम्हि**=अंत में।।१७।।

आउबलेण=आयु के बल से, **अवट्ठिदि**=अवस्थिति होती है, **भवस्स**=भव की/असमान-जातीय द्रव्य-पर्याय की, **इदि**=इसलिए, **णामं**=नाम को, **आउपुव्वं**=आयु पूर्वक/आयु के बाद, **तु**=वास्तव में, **भवं**=भव का, **अस्सिय**=आश्रय लेकर, **णीच+उच्चं**=नीच-उच्च, **इदि**=इसलिए, **गोदं**=गोत्र को, **णामपुव्वं**=नाम पूर्वक/नाम के बाद, **तु**=वास्तव में।।१८।।

घादिंव=घाति के समान, **वेयणीयं**=वेदनीय, **मोहस्स**=मोह के, **बलेण**=बल से, **घाददे**=घातता है, **जीवं**=जीव को, **इदि**=इसलिए, **घादीणं**=घातिओं के, **मज्झे**=मध्य में, **मोहस्स**=मोहनीय के, **आदिम्हि**=पहले, **पढिदं**=पढ़ा है/रखा है, **तु**=वास्तव में।।१९।।

णाणस्स=ज्ञान का, **दंसणस्स**=दर्शन का, **य**=और, **आवरणं**=आवरण, **वेयणीय**=वेदनीय, **मोहणियं**=मोहनीय, **आउग**=आयुष्क, **णामं**=नाम, **गोद**=गोत्र, **अंतरायं**=अंतराय, **इदि**=ऐसा, **पढिदं**=पढ़ा गया है, **इदि**=इसप्रकार, **सिद्धं**=सिद्ध हुआ।।२०।।

अन्वय : अब्भरहिदादु णाणं पुव्वं हि तत्तो दंसणं होदि अदो सम्मत्तं जीवगदं अजीवगदं इदि चरिमे विरियं।

घादीवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो, णामतियणिमित्तादो विग्घं अघादिचरिमम्हि पडिदं।

आउबलेण भवस्स अवट्ठिदि इदि आउपुव्वं णामं तु णीचं उच्चं भवं अस्सिय इदि तु णाम पुव्वं गोदं।

वेयणीयं मोहस्स बलेण घादिं व जीवं घाददे इदि घादीणं मज्झे तु मोहस्स आदिम्हि पढिदं।

णाणस्स आवरणं य दंसणस्स आवरणं वेयणीय मोहणियं आउग णामं गोद अंतरायं इदि पढिदं इदि सिद्धं।

सरलार्थ : (यद्यपि छद्मस्थों को ज्ञान, दर्शन पूर्वक होता है; तथापि) पूज्य होने के कारण ज्ञान को सर्व-प्रथम रखा है। तदुपरांत वास्तव में दर्शन है। तत्पश्चात् सम्यक्त्व है तथा जीव-अजीवगत/जीव-अजीव सभी में सामान्यरूप से विद्यमान होने के कारण वीर्य को अंत में रखा; इस अपेक्षा से तत्संबंधी कर्मों का क्रम ज्ञानावरण, दर्शनावरण,

मोहनीय और अंतरायरूप में सुनिश्चित हुआ।

अंतराय कर्म घाति होने पर भी अघाति कर्मों के समान जीव के गुणों को पूर्णतया घातने में समर्थ नहीं होने के कारण तथा नाम, गोत्र और वेदनीय—इन तीन कर्मों के निमित्त से अपना कार्य करता होने के कारण, उसे अघाति कर्मों के अंत में पढ़ा/रखा गया है।

आयुष्क के बल से/आयुष्क कर्म के उदय से भव की/असमान-जातीयरूप (मनुष्यादि) द्रव्य-पर्याय की/शरीर की अवस्थिति रहती है; अत: नामकर्म को आयु पूर्वक/आयुष्क के बाद में रखा गया है। भव का/असमान जातीय द्रव्य-पर्याय का/शरीर का आश्रय लेकर नीच-उच्च प्रवृत्ति होने के कारण गोत्र को नाम पूर्वक/नामकर्म के बाद रखा गया है।

वेदनीय कर्म (अघाति होने पर भी) मोह के बल से घाति के समान जीव (के गुणों) को घातने में निमित्त होने के कारण, उसे घाति के मध्य में मोहनीय के पूर्व पढ़ा गया है।

इसप्रकार ज्ञान का आवरण/ज्ञानावरण, दर्शन का आवरण/दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र और अंतराय—यह (आठवीं गाथा में) पढ़ा गया आठ-कर्मों का क्रम सिद्ध हुआ।

स्पष्टीकरण : जैसे वस्तु में विद्यमान अनंतानंत गुण सदैव एक साथ परिणमन करते हुए अखण्डरूप में रहते हैं; उसीप्रकार जीव के मोहादि विकारी भावों का निमित्त पाकर अपनी-अपनी योग्यतानुसार कर्म एक साथ ही बँधते हैं, एक साथ ही रहते हैं; सत्ता-उदय आदि सभी कुछ एक साथ ही होता रहता है। उनमें कोई क्रम नहीं है; तथापि समझने-समझाने के लिए प्रयुक्त वचन-व्यवहार में उन्हें क्रमश: ही प्रतिपादित किया जाता है। यहाँ उनके इस क्रम का सहेतुक औचित्य सिद्ध किया जा रहा है।

१५वीं गाथा में सम्यक्त्व प्रगट होने की प्रक्रिया के रूप में दर्शन, ज्ञान और सम्यक्त्व—इसप्रकार से जीव के गुणों/जीव की पर्यायों के क्रम को स्पष्ट किया है। तदनुसार तत्संबंधी कर्मों का दर्शनावरण, ज्ञानावरण, मोहनीय—इस रूप में क्रम सिद्ध होता है; परन्तु ऐसा क्रम नहीं रखा गया है। ज्ञान को प्रथम स्थान दिया है। ऐसा करने का

कारण बताते हुए १६वीं गाथा में आचार्यदेव लिखते हैं कि ज्ञानगुण पूज्य होने से उसे प्रथम स्थान दिया है।

यद्यपि छद्मस्थ जीव को दर्शनोपयोग पूर्वक ही ज्ञानोपयोग होता है; परन्तु दर्शनोपयोग स्व-पर विशेष प्रकाशक क्षमता से रहित, सामान्य-ग्राही, निराकार, निर्विकल्प होने से उसका तत्त्व-निर्णय में योग-दान मुख्य नहीं है। ज्ञानोपयोग स्व-पर प्रकाशक क्षमता-सम्पन्न, विशेष-ग्राही, साकार, सविकल्प होने से जीव के जीवत्व को पहिचानने का साधन होने के साथ-साथ तत्त्व का यथार्थ निर्णय करने के लिए एक-मात्र कारण होने से पूज्य है; पूज्य को सर्व-प्रथम स्थान दिया जाता है; अत: ज्ञान को सबसे पहले रखा है।

दर्शन पूर्वक ज्ञान हुआ होने से ज्ञान के तत्काल बाद दर्शन को स्थान मिला। इसप्रकार ज्ञान-दर्शन—यह क्रम सिद्ध हो जाने से तत्संबंधी कर्मों का भी ज्ञानावरण, दर्शनावरण—यह क्रम सिद्ध हुआ।

ज्ञान के माध्यम से सप्तभंगी द्वारा पदार्थों का निर्णय करने पर सम्यक्त्व होने से, सम्यक्त्व का इनके बाद स्थान होने के कारण, तत्संबंधी कर्म/मोहनीय को भी इनके बाद स्थान मिला।

अन्तराय को सबसे अंत में रखने के यहाँ तीन कारण दिए गए हैं-

१.अंतराय कर्म वीर्य-गुण के घात में निमित्त होता है। वीर्य-गुण, जीव-अजीव सभी में विद्यमान होने से सर्व-व्यापक होने के कारण तत्संबंधी कर्म को भी सर्व-व्यापक मानकर सबसे अंत में स्थान दिया है।

२.अंतराय कर्म घाति होने पर भी, इसकी सम्पूर्ण प्रकृतिआँ देश-घाति होने से, इसमें एक भी प्रकृति सर्व-घाति नहीं होने से, यह अघाति कर्मों के समान पूर्णतया घात करने में सक्षम नहीं होने के कारण, इसे सबसे अंत में रखा है।

३.अंतराय कर्म मुख्यतया नाम, गोत्र और वेदनीय—इन तीन कर्मों के माध्यम से ही अपना कार्य करता होने के कारण इसे अघाति के अंत में रखा गया है।

इसप्रकार अंतराय कर्म को मात्र घाति-कर्मों के अंत में ही नहीं, वरन् अघाति-कर्मों के भी बाद सबसे अंत में रखा गया है।

मोहनीय कर्म के उदय में होनेवाले मोहादि भावों का निमित्त

पाकर बँधने वाले कर्मों में से नामकर्म के उदय में बननेवाले शरीर में जीव की स्थिति, आयुष्क कर्म के उदयानुसार होती है अर्थात् यह मनुष्यादिरूप असमान-जातीय द्रव्य-पर्याय, आयुष्क कर्म के उदयानुसार ही बनी रहती है; अत: आयुष्क कर्म को मोहनीय के बाद और नामकर्म के पूर्व स्थान मिला।

आयुष्क कर्म से स्थिर, नामकर्म से निर्मित, इस असमान-जातीय द्रव्य-पर्यायरूप भव की प्रवृत्तिओं पर ही उच्च-नीच का व्यवहार होने से, उसमें निमित्त होनेवाले गोत्रकर्म को नामकर्म के बाद स्थान मिला है।

इसके बाद सबसे अंत में अंतराय-कर्म को रखने के कारणों की चर्चा तो पहले ही हो गई है।

वेदनीय कर्म अघाति होने पर भी उसे घाति के मध्य ज्ञानावरण-दर्शनावरण के बाद तथा मोहनीय के पूर्व रखने में कारण यह है कि वह, मोहनीय-कर्मोदय के बल पर ही अपना कार्य करने में सक्षम है, अन्यथा नहीं; तथा ज्ञान होने पर ही उसके कार्य का महत्त्व है, अज्ञात दशा में उसके कार्य का कोई महत्त्व नहीं है।

इसप्रकार विशिष्ट हेतुओं को लक्षितकर कर्मों का ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र और अंतराय—यह क्रम निश्चित किया गया है।

***प्रश्न* ४० :** १५ से २० पर्यन्त ६ गाथाओं वाले इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

***उत्तर* :** इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.तत्त्व-निर्णय किए विना कभी भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है। तत्त्व-निर्णय करने में ज्ञान की अहं-भूमिका है, इसलिए उसे पूज्य भी कहा गया है—यह समझ में आ जाने पर उपलब्ध ज्ञान का तत्त्व-निर्णय करने की दिशा में उपयोग करने की मनोवृत्ति जागृत होती है; जिससे सम्यक्त्व-प्राप्ति का अवसर प्राप्त होता है।

२.सप्तभंगी आदि प्रकरण, मात्र बौद्धिक व्यायाम नहीं हैं; वरन् तत्त्व-निर्णय करने के अमोघ कारण/साधन हैं—यह समझ में आ जाने पर ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रकरणों के प्रति उपेक्षा का भाव नष्ट होकर, जिज्ञासा-वृत्ति जागृत होती है।

३.वेदनीय कर्म सदैव मोहनीय कर्म के आश्रय से ही कार्य करता है। इसके विना वह लौकिक सुख-दुःख में भी कारण नहीं है—यह समझ में आ जाने पर लौकिक सुख-शान्ति प्राप्त करने के लिए भी अपने मोहादि भावों को ही नष्ट/कम करने की दिशा में पुरुषार्थ जागृत होता है। बाह्य सामग्री आदि को मिलाने-हटाने के निरर्थक प्रयास से बच जाते हैं।

४.अंतराय कर्म आयुष्क कर्म को बाधित नहीं करता है—यह समझ में आ जाने पर तत्संबंधी चिंता समाप्त होकर जीवन निश्चिंत, निर्भय हो जाता है।

५.अंतराय कर्म में सर्व-घाति प्रकृतिआँ नहीं होने से वह स्वयं कोई विशिष्ट कार्य करने में सक्षम नहीं होने के कारण ही उसे अंतिम स्थान दिया गया है—यह समझ में आ जाने पर उस पर दोषारोपण करने का भाव, नष्ट हो जाता है तथा अपनी अरुचि, कषायी, प्रमादी वृत्ति को अपना ही अपराध मानकर, उसे नष्ट करने की दिशा में स्वोन्मुखी पुरुषार्थ करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

६.वीर्य अर्थात् कार्य करने की क्षमता सभी द्रव्यों में विद्यमान है—यह समझ में आ जाने पर कर्तृत्व बुद्धि नष्ट होकर सहज ज्ञातृत्व भावरूप निर्भार, सुख-शान्तिमय जीवन हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ४१ : २१वीं गाथा के आधार पर सोदाहरण कर्मों का सामान्य स्वरूप स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : वह गाथा इसप्रकार है—

पडपडिहारसिमज्जा-हलिचित्तकुलालभंडयारीणं।
जह एदेसिं भावा, तहवि य कम्मा मुणेयव्वा।।२१।।

पट प्रतिहारी शहद लपेटी असि मदिरा हलि चित्रकरण।
कुम्हार भंडारी समान हैं कार्य यथाक्रम अष्टकरम।।२१।।

शब्दशः अर्थ : **पड**=वस्त्र, **पडिहार**=प्रतिहार/द्वारपाल, **सि/असि**= शहद लपेटी तलवार, **मज्जा**=मदिरा, **हलि**=काठ का खोड़ा, **चित्त**= चित्रकार, **कुलाल**=कुंभकार, **भंडयारीणं**=भंडारी के, **जह**=जैसे, **एदेसिं**=इनके, **भावा**=भाव/कार्य, **तहवि**=उसीप्रकार, **य**=और,

कम्मा=कर्म, **मुणेयव्वा**=जानना चाहिए।।२१।।

अन्वय : जह पड पडिहार असि मज्जा हलि चित्त कुलाल य भंडयारीणं एदेसिं भावा तहवि कम्मा मुणेयव्वा।

सरलार्थ : वस्त्र, द्वारपाल, शहद-लपेटी तलवार, शराब, काठ का खोड़ा, चित्रकार, कुंभकार और भंडारी/खजांची—इनके जैसे भाव/ कार्य हैं; उसीप्रकार क्रमशः कर्मों के कार्य जानना चाहिए।

स्पष्टीकरण : इस गाथा में उदाहरण के माध्यम से निम्नलिखित रूप में कर्मों के कार्य स्पष्ट किए गए हैं।

१.ज्ञानावरण : इसका कार्य, वस्त्र के समान है। जैसे—किसी मोटे वस्त्र को किसी पदार्थ पर डालने से वह उस पदार्थ को आवृत कर लेता है/ ढक देता है। वस्त्र के पीछे क्या विद्यमान है—यह ज्ञात नहीं हो पाता है; उसीप्रकार ज्ञान-स्वभावी होने पर भी, ज्ञानावरण का उदय आने पर, हमारी जानने की क्षमता व्यक्त नहीं हो पाती है।

वहीं जैसे—यदि वस्त्र, उत्तरोत्तर पतला हो तो पदार्थ का कुछ-कुछ ज्ञान होने लगता है; इसीप्रकार ज्ञानावरण कर्म का जैसा-जैसा क्षयोपशम होता जाता है, तदनुसार जीव का ज्ञान भी पर्याय में विकसित हो जाने से स्व-पर पदार्थों का ज्ञान हो जाता है; तथा जैसे—वस्त्र के पूर्णतया हट जाने पर पदार्थ पूर्णतया दिखाई देने लगता है; उसीप्रकार ज्ञान-स्वभावी आत्मा में पूर्ण-लीनता के बल पर जब ज्ञानावरण का पूर्णतया अभाव हो जाता है, तब तीन-काल और अलोकाकाश-सहित तीन-लोकवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ जान लेता है।

२.दर्शनावरण : इसका कार्य, द्वारपाल के समान है। जैसे—राजमहल में राजा विद्यमान होने पर भी दर्शक को द्वारपाल द्वारा द्वार पर ही रोक दिए जाने पर, वह राजा को देख नहीं पाता है/राजा की विद्यमानता का आभास भी नहीं कर पाता है; उसीप्रकार दर्शन-स्वभावी होने पर भी, दर्शनावरण का उदय होने पर पदार्थों का सामान्य प्रतिभास नहीं होता है।

दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशमानुसार स्व-पर पदार्थों का सामान्य प्रतिभास हो जाता है तथा उसका पूर्णतया अभाव हो जाने पर तीन-काल और अलोकाकाश-सहित तीन-लोकवर्ती समस्त पदार्थों का एक साथ सामान्य प्रतिभास हो जाता है।

३.वेदनीय : इसका कार्य, शहद लपेटी तलवार के समान है। जैसे—मधु-मक्खिओं के उच्छिष्टादि से निर्मित शहद के स्वाद का लोलुपी कोई जीव, तलवार में लगे शहद को चाँटता है तो अत्यल्प स्वाद के साथ ही जीभ कटने से उत्पन्न भयंकर दु:ख को उसे दीर्घ-काल पर्यन्त सहन करना पड़ता है; उसीप्रकार स्वयं निराबाध सुख-स्वभावी होने पर भी, साता वेदनीय के उदय में पराश्रित, क्षणिक, सुखाभासमय अत्यल्प काल के लिए सातारूप कुछ अनुकूलता का वेदन करते ही तत्काल असाता-वेदनीय का उदय आ जाने से दीर्घ-काल पर्यन्त असातारूप तीव्र प्रतिकूलता का वेदन करना पड़ता है।

वेदनीय कर्म का पूर्णतया क्षय होने पर अव्याबाधमय अतींद्रिय आनन्द का वेदन होता है।

४.मोहनीय : इसका कार्य, मदिरा के समान है। जैसे—मदिरा-पान करने पर उसके नशे से व्यक्ति असावधान हो जाता है। उसे अपने-पराए का भेद नहीं रह जाता है। अपनी पहिचान विस्मृत हो जाने के कारण बेहोश/मद-होश/बेसुध रहता हुआ वह अशोभनीय अनर्गल चेष्टाएं भी करने लगता है। अस्थिर चित्त से यहाँ-वहाँ भटकता हुआ आकुलता भोगता रहता है; उसीप्रकार स्वयं स्थिर, अचल, अनाकुल, एक स्वभावी होने पर भी यह जीव मोहनीय कर्म के उदय में स्वयं को भूलकर, अपनी सुध-बुध खोकर, शरीरादि पर-पदार्थों को अपनाने का अशोभनीय, अनर्गल, दु:ख-दाई प्रयास करता रहता है। अस्थिर चित्त से पर-पदार्थों को सुख-दु:ख का कारण मानकर, उन्हें मिलाने-हटाने के निरर्थक प्रयास से अनन्त आकुलता को भोगता हुआ, चार गति-चौरासी लाख योनिओं में यहाँ-वहाँ भटकता हुआ, दु:ख भोगता रहता है।

इसके अभाव में स्व-पर की यथार्थ पहिचानकर, पूर्ण सावधानी पूर्वक स्व में स्थिर होकर निराकुल, स्थिर, अतींद्रिय आनन्द का भोक्ता हो जाता है।

५.आयुष्क कर्म : इसका कार्य, काठ के खोड़े के समान है। जैसे—अपने अपराध की सजा भोगने के लिए अपराधी को काठ के खोड़े में फसा दिए जाने पर, वह उसमें से निकल नहीं पाता है; पराधीन होकर

वहीं बंधन का दु:ख भोगता रहता है; उसीप्रकार पूर्ण स्वतंत्र, निर्बंध, अवगाहनत्वमय अमूर्तिक होने पर भी अपनी अपराधी वृत्तिओं की सजा के रूप में आयुष्क कर्म का उदय आने पर इसे शरीररूपी जेल में रहते हुए पराधीनतामय बंधन का दु:ख भोगना पड़ता है। आयुष्क कर्म का उदय रहने पर तत्संबंधी शरीर से किसी भी स्थिति में यह जीव निकल नहीं पाता है। चाहे-अनचाहे प्रत्येक परिस्थिति में इसे उस शरीर में रहना ही पड़ता है।

इसका पूर्णतया अभाव हो जाने पर अशरीरी सूक्ष्मता-संपन्न अवगाहनत्वमय, अमूर्तिक दशा प्रगट हो जाती है।

६.नामकर्म : इसका कार्य, चित्रकार के समान है। जैसे—चित्रकार, अनेक प्रकार के चित्रों को चित्रित करता रहता है; उसीप्रकार अमेचक स्वभावी, नित्य, अनिर्दिष्ट-संस्थानमई एकाकार होने पर भी, इस कर्म के उदय में अनेक प्रकार की संरचनावाले शरीर में रहने के कारण इस जीव के भी अनेक आकार दिखाई देते हैं। आकार, शक्ति, अंगोपांग आदि शरीर की संपूर्ण व्यवस्था इसी कर्म के उदय में होती है।

इसका पूर्णतया अभाव हो जाने पर अनिर्दिष्ट-संस्थानमय अवगाहनता-संपन्न, सूक्ष्मत्व, अमूर्तत्वरूप एक ज्ञानाकार दशा प्रगट हो जाती है।

७.गोत्रकर्म : इस कर्म का कार्य, कुंभकार के समान है। जैसे—कुंभकार, छोटे-बड़े आदि अनेक प्रकार के घड़े बनाता रहता है; उसीप्रकार एकरूप अगुरुलघुत्व स्वभावी होने पर भी इस जीव की इस कर्म के उदय में उच्च-नीच गोत्र रूप प्रवृत्ति होती रहती है। इसके संस्कार, आचार, विचार, व्यवहार आदि सदा एक-समान नहीं रह पाते हैं; जिससे इसे बड़े-छोटे का अनुभव करना पड़ता है।

इस कर्म के पूर्णतया अभाव में उच्च-नीच के व्यवहार से रहित सदा एक रूप रहनेवाली अगुरुलघु दशा प्रगट हो जाती है।

८.अंतरायकर्म : इस कर्म का कार्य, भंडारी/खजांची के समान है। जैसे—भंडारी, सामग्री विद्यमान होने पर भी इच्छुक व्यक्ति को उसकी इच्छानुसार नहीं देता है। उसमें विविध बाधाएं उपस्थित करता है; उसीप्रकार स्वयं अनन्त शक्ति-सम्पन्न होने पर भी इस जीव के अंतराय

कर्म का उदय होने पर दानादि की शक्ति व्यक्त नहीं हो पाती है। उस कर्म के क्षयोपशमानुसार वह शक्ति कुछ-कुछ व्यक्त होती है। दान, लाभ, भोग, उपभोग आदि की क्षमता विकसित होती है।

इस कर्म का पूर्णतया अभाव हो जाने पर अनन्त वीर्य-सम्पन्न दशा व्यक्त हो जाती है। अनंत दान, अनंत लाभ, अनंत भोग, अनंत उपभोग आदि करने की अनंत क्षमता प्रगट हो जाती है।

इसप्रकार इस २१वीं गाथा द्वारा आचार्यदेव ने आठ उदाहरणों के माध्यम से क्रमशः आठ कर्मों के कार्य स्पष्ट किए हैं।

इन्हें सारणी द्वारा इसप्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

२१वीं गाथा के आधार से दृष्टांतपूर्वक मूल कर्म प्रकृतिओं के कार्य–

क्रम	मूलकर्म-प्रकृति नाम	कार्यों के दृष्टांत
१.	ज्ञानावरण-कर्म	वस्त्र आदि के समान
२.	दर्शनावरण-कर्म	द्वारपाल आदि के समान
३.	वेदनीय-कर्म	शहद लपेटी तलवार आदि के समान
४.	मोहनीय-कर्म	मदिरा आदि नशाकारक पदार्थों-सम
५.	आयुष्क-कर्म	काठ के खोड़े आदि के समान
६.	नाम-कर्म	चित्रकार आदि के समान
७.	गोत्र-कर्म	कुंभकार आदि के समान
८.	अंतराय-कर्म	भंडारी आदि के समान

प्रश्न ४२ : इस प्रकरण को समझने से होनेवाले लाभ लिखिए?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.ज्ञानावरण का कार्य वस्त्र के समान होने से उसका उदय ज्ञान को पूर्णतया नष्ट करने में सक्षम नहीं है—यह समझ में आ जाने पर प्रगट ज्ञान से अपने ज्ञान-स्वभाव की पहिचानकर सतत ज्ञानमय ही रहने का भाव जागृत होता है।

२.वेदनीय-कर्म का कार्य शहद लपेटी तलवार के समान है अर्थात् अनुकूल वेदन भी अंततः कष्टकर, आकुलतामय ही है—यह समझ में आ जाने पर अनुकूल-प्रतिकूल सभी परिस्थितिओं को सहज स्वीकार कर, उनके प्रति समता-भाव धारण कर, उनसे सतत भेद-

विज्ञान करते रहने का पुरुषार्थ जागृत होता है।

३.मोहनीय कर्म का कार्य मदिरावत होने के कारण निमित्तरूप में सर्वाधिक भयंकरता इसी कर्म की है; क्योंकि इससे जीव के परिणाम असावधान होकर अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं—यह समझ में आ जाने पर हम सर्व-प्रथम अपनी सम्पूर्ण शक्ति एकत्रित कर इसे ही नष्ट करने की दिशा में पुरुषार्थ करते हैं अर्थात् सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निर्णयकर, स्व-पर भेद-विज्ञान पूर्वक, स्वयं को/ज्ञानानन्द-स्वभावी निज भगवान आत्मा को अपनत्व रूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिर रहने का पुरुषार्थ करते हैं। इसमें सफल होने पर पूर्ण स्वरूप-स्थिरता के फल-स्वरूप मोहनीय कर्म का तो अभाव होता ही है; क्रमशः शेष कर्म भी नष्ट होकर आत्मा, अष्ट कर्म से रहित, पूर्ण मुक्त सिद्ध दशा को प्राप्त हो जाता है। यह प्रकरण इस दिशा में ही सतत पुरुषार्थ-शील रहने को प्रेरित करता है।

४.इस असमान-जातीय द्रव्य-पर्याय की स्थिति का नियामक कारण मात्र आयुष्क कर्म है, अन्य कोई सामग्री नहीं है—यह समझ में आ जाने पर उसे टिकाने के लिए होनेवाले अन्याय, अनीति, अभक्ष्य-भक्षण, मिथ्यात्व आदि दुष्कृत्यों से बचकर जीवन शुद्ध, सात्त्विक, सदाचारमय हो जाता है।

५.शरीर-संरचना की सम्पूर्ण व्यवस्था नाम-कर्माधीन है—यह समझ में आ जाने पर तत्संबंधी चिंता से मुक्त हो अपने समय, शक्ति, उपयोग को वहाँ से हटाकर आत्म-कल्याण-कारी कार्यों में लगाने का पुरुषार्थ करते हैं।

६.गोत्र-कर्म का संबंध जाति आदि से नहीं है; वरन् अपने संस्कारों से है—यह समझ में आ जाने पर तत्संबंधी संकुचित वृत्तिआँ नष्ट होकर, चित्त में उदारता, विशालता, व्यापक दृष्टिकोण का भाव व्यक्त होता है।

७.अंतराय कर्म भंडारी के समान सीधा हमारा घात नहीं करता है, मात्र कार्यों में विघ्न उपस्थित करने में निमित्त होता है—यह समझ में आ जाने पर अपने अपराधों, कमजोरिओं को कर्मों पर आरोपित करने का भाव समाप्त होकर, अपना दोष स्वीकारकर, अपने त्रैकालिक निर्दोष

स्वभाव के अवलम्बन से दोष-मुक्त होने की दिशा में पुरुषार्थ जागृत होता है।

८.वास्तव में आठों ही कर्म आत्म-प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही होने से, उनके उदय आदि का संबंध भी मात्र आत्मा के साथ या एक-क्षेत्रावगाही शरीर के साथ ही बनता है; अन्य बाह्य पदार्थों के साथ नहीं—यह समझ में आ जाने पर बाह्य-पदार्थों से अपने कर्म का निरीक्षण करने संबंधी भाव समाप्त हो जाता है और कर्मों को नष्ट करने के लिए सही दिशा में पुरुषार्थ करने का भाव अर्थात् आत्म-लीन रहने का भाव जागृत होता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ४३ : २२वीं गाथा के माध्यम से कर्म के भेद-प्रभेदों की संख्या स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उन्हें स्पष्ट करने वाली वह गाथा इसप्रकार है—

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण ते-णउदी।
ते उत्तरं सयं वा, दुग-पणगं उत्तरा होंति।।२२।।
क्रमश: पाँच और नौ दो, अट्ठाइस चार तिरानवै सौ।
और तीन दो पाँच कर्म के उत्तर भेद सभी समझो।।२२।।

शब्दश: अर्थ : **पंच**=पाँच, **णव**=नौ, **दोण्णि**=दो, **अट्ठा+बीसं**= आठ+बीस/अट्ठाईस, **चउरो**=चार, **कमेण**=क्रम से, **ते+णउदी**=तीन+ नब्बे/तेरानबै, **ते उत्तरं सयं**=तीन आगे सौ/एक सौ तीन, **वा**=अथवा, **दुग**=दो, **पणगं**=पाँच, **उत्तरा**=उत्तर-प्रकृतिआँ, **होंति**=होती हैं।।२२।।

अन्वय : कमेण पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो ते-णउदी वा ते उत्तरं सयं दुग-पणगं उत्तरा होंति।

सरलार्थ : (ज्ञानावरण आदि मूल आठ कर्मों की) क्रम से पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तेरानबै अथवा एक सौ तीन, दो और पाँच उत्तर-प्रकृतिआँ हैं।

स्पष्टीकरण : ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयुष्क की चार, नामकर्म की तेरानबै या एक सौ तीन, गोत्रकर्म की दो और अंतराय-कर्म की पाँच उत्तर-

प्रकृतिआँ हैं।

नामकर्म की शरीर प्रकृति के मूल में औदारिक आदि पाँच भेद हैं। इनके (२७वीं गाथा के अनुसार) औदारिक-औदारिक आदि पंद्रह उत्तर भेद हो जाते हैं। नामकर्म के कुल भेदों में शरीर के मात्र पाँच भेद गिनने पर तेरानबै तथा शरीर के पंद्रह भेद गिनने पर एक सौ तीन भेद हो जाते हैं।

'वा' शब्द से एक सौ तेईस भेद भी लिए जा सकते हैं। वर्ण आदि बीस प्रकृतिआँ, शुभ और अशुभ दोनों रूप होने से इन्हें पृथक्-पृथक् गिनने पर नामकर्म के एक सौ तेईस भेद भी हो जाते हैं।

मूल कर्मों के इन सभी उत्तर भेदों के नाम और स्वरूप, आचार्य-कल्प पण्डित टोडरमलजी ने 'सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका' में इसप्रकार लिखे हैं—

जो मतिज्ञान को आवृत करता है अथवा जिसके द्वारा मतिज्ञान आवृत होता है, वह ***मति-ज्ञानावरण*** है। जो श्रुतज्ञान को आवृत करता है अथवा जिसके द्वारा श्रुतज्ञान आवृत होता है, वह ***श्रुत-ज्ञानावरण*** है। जो अवधिज्ञान को आवृत करता है अथवा जिसके द्वारा अवधिज्ञान आवृत होता है, वह ***अवधि-ज्ञानावरण*** है। जो मन:पर्यय-ज्ञान को आवृत करता है अथवा जिसके द्वारा मन:पर्ययज्ञान आवृत होता है, वह ***मन:पर्यय-ज्ञानावरण*** है। जो केवलज्ञान को आवृत करता है अथवा जिसके द्वारा केवलज्ञान आवृत होता है, वह ***केवल-ज्ञानावरण*** है।

ये ज्ञानावरण की पाँच उत्तर-प्रकृतिआँ हैं।

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन को जो आवृत करते हैं अथवा जिनके द्वारा ये आवृत होते हैं, वे क्रमश: ***चक्षु-दर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण, अवधि-दर्शनावरण, केवल-दर्शनावरण*** हैं। जिसके उदय में सोते समय विशेष वीर्य प्रगट होता है, आर्त-रौद्रमय अनेक कार्य हो जाते हैं, वह ***स्त्यानगृद्धि-दर्शनावरण*** है। जिसके उदय में नींद पर नींद आती है, वह ***निद्रानिद्रा-दर्शनावरण*** है। जिसके उदय में शारीरिक अंगोपांगों का हलन-चलन विशेष होता है, वह ***प्रचलाप्रचला-दर्शनावरण*** है। जिसके उदय में खेदादि मिटाने के लिए नींद आती है, वह ***निद्रा-दर्शनावरण*** है।

जिसके उदय में सोते समय भी कुछ-कुछ सावधानी रहती है, वह ***प्रचला-दर्शनावरण*** है।

ये दर्शनावरण की नौ उत्तर प्रकृतिआँ हैं।

जिसके उदय में या जिसके द्वारा देवादि गतिओं में शारीरिक-मानसिक अनुकूलता भोगते हैं या उनका वेदन कराया जाता है, वह ***साता-वेदनीय*** है। जिसके उदय में या जिसके द्वारा शारीरिक, मानसिक प्रतिकूलता भोगते हैं या उनका वेदन कराया जाता है, वह ***असाता-वेदनीय*** है। ये वेदनीय की दो उत्तर-प्रकृतिआँ हैं।

जिसके उदय में सर्वज्ञ-प्रणीत मार्ग से पराङ्मुख हो, तत्त्वार्थ-श्रद्धान नहीं होता है, हिताहित विचार करने में समर्थ नहीं होता है, वह ***मिथ्यात्व*** है। जिसके उदय में प्रक्षालित मादक कोदों के समान क्षीणाक्षीण रूप मिश्र श्रद्धान होता है, वह ***सम्यग्मिथ्यात्व*** है। जिसके उदय में तत्त्व-श्रद्धान विद्यमान रहने पर भी कुछ मलिन रहता है, वह ***सम्यक्त्व प्रकृति*** है। ये दर्शन-मोहनीय की तीन उत्तर-प्रकृतिआँ हैं।

जो आचरण होता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाता है या आचरणमात्र, चारित्र है। जिससे यह मोहित किया जाता है या मोहित होता है, वह चारित्र-मोहनीय है। इसके मूल में दो भेद हैं—कषाय-वेदनीय, नोकषाय-वेदनीय। कषाय-वेदनीय के सोलह और नोकषाय-वेदनीय के नौ भेद हैं। वे इसप्रकार हैं—

अनन्त संसार को कारणभूत मिथ्यात्व के साथ अनुबन्धित क्रोध, मान, माया, लोभ ***अनन्तानुबंधी चतुष्क*** है; अथवा सम्यक्त्वाचरण चारित्र की नाशक कषाय, ***अनन्तानुबंधी*** है। अ=नहीं, प्रत्याख्यान= त्याग; जिसके उदय में अल्प-मात्र भी त्याग नहीं होता है; जो देश-संयम को आवृत करती है, वह ***अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क*** है। जिसके उदय में पूर्ण त्याग नहीं होता है, जो सकल-संयम को आवृत करती है, वह ***प्रत्याख्यानावरण चतुष्क*** है। सं=एकीभूत हो, ज्वलन= प्रकाश करती है; जो संयम-सहित प्रकाशित रहती है, यथाख्यात-चारित्र का घात करती है, वह ***संज्वलन चतुष्क कषाय*** है। ये कषाय-वेदनीय संबंधी सोलह उत्तर-प्रकृतिआँ हैं।

जिसके उदय में हास्यरूप भाव व्यक्त होता है, वह ***हास्य*** है।

जिसके उदय में क्षेत्रादि की ओर उत्सुकता-प्रीति होती है, वह ***रति*** है। जिसके उदय में क्षेत्रादि की ओर निरुत्सुकता-अप्रीति होती है, वह ***अरति*** है। इष्ट का वियोगादि होने पर जिसके उदय में दुःख-क्लेश होता है, वह ***शोक*** है। जिसके उदय में डर, उद्वेग, उच्चाटन होता है, वह ***भय*** है। जिसके उदय में ग्लानि, विचिकित्सा होती है, वह ***जुगुप्सा*** है। जिसके उदय में स्त्री संबंधी भाव होते हैं, वह ***स्त्रीवेद*** है। जिसके उदय में पुरुष संबंधी भाव होते हैं, वह ***पुरुषवेद*** है। जिसके उदय में नपुंसक संबंधी भाव होते हैं, वह ***नपुंसकवेद*** है।

ये नो कषाय-वेदनीय के नौ भेद हैं।

इसप्रकार दर्शन-मोहनीय की तीन, चारित्र-मोहनीय की पच्चीस मिलकर मोहनीय कर्म की कुल अट्ठाईस उत्तर-प्रकृतिआँ हैं।

पर्याय धारण करने के निमित्त जिसे एति=प्राप्त हो, वह आयुष्क कर्म है। जिसके उदय में तीव्र शीत-उष्ण आदि वेदना-सहित नरकों में बहुत काल पर्यंत जीवन रहता है, वह ***नारक-आयुष्क*** है। जिसके उदय में तिर्यंच-गति में रहना होता है, वह ***तिर्यंचायुष्क*** है। जिसके उदय में मनुष्य-गति में रहना होता है, वह ***मनुष्यायुष्क*** है। जिसके उदय में देव-गति में रहना होता है, वह ***देवायुष्क*** है।

ये आयुष्क कर्म की चार उत्तर-प्रकृतिआँ हैं।

पिण्ड-अपिण्ड प्रकृति की अपेक्षा नामकर्म के ब्यालीस भेद हैं। उनमें से जिसके उदय में आत्मा पर्याय से पर्यायान्तर को प्राप्त होता है, वह गति है। इसके चार भेद हैं। जिसके उदय में नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव गति की प्राप्ति होती है, वह क्रमशः ***नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति*** नामकर्म है।

जिसके उदय में एक अव्यभिचारी सादृश्य-भाव में जीव एकत्रित होते हैं, वह जाति है। इसके पाँच भेद हैं। जिसके उदय में आत्मा एकेंद्रिय, दो इंद्रिय, तीनेंद्रिय, चारेंद्रिय, पंचेंद्रिय कहलाता है; वह क्रमशः एकेंद्रिय जाति, दो इंद्रिय जाति, तीनेंद्रिय जाति, चारेंद्रिय जाति, पंचेंद्रिय जाति नामकर्म है।

जिसके उदय में शरीर निष्पन्न होता है, वह शरीर नामकर्म है। इसके ***औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर*** नामकर्म

—ये पाँच भेद हैं।

शरीर नामकर्म के उदय में ग्रहण हुए आहार-वर्गणा रूप पुद्गल स्कन्धों के प्रदेशों का परस्पर संश्लेष संबंध जिसके उदय में होता है, वह बंधन नामकर्म है। इसके शरीर के समान ही ***औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर बन्धन नामकर्म***—ये पाँच भेद हैं।

जिसके उदय में औदारिकादि शरीरों के परमाणु, छिद्र-रहित हो पारस्परिक एक क्षेत्रावगाह द्वारा एकत्व को प्राप्त होते हैं, वह संघात नामकर्म है। इसके भी शरीर के समान ***औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर संघात नामकर्म***—ये पाँच भेद हैं।

जिसके उदय में औदारिक आदि शरीरों का आकार उत्पन्न होता है, वह संस्थान नामकर्म है। इसके छह भेद हैं—***१.*** जिसके उदय में समान चौकोर, सुडौल आकार होता है, वह ***समचतुरस्र संस्थान*** है। ***२.*** जिसके उदय में वट-वृक्ष के समान, नीचे पतला और ऊपर मोटा शरीराकार बनता है, वह ***न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान*** है। ***३.*** जिसके उदय में बिल के समान, नीचे मोटा और ऊपर पतला शरीराकार बनता है, वह ***स्वाति संस्थान*** है। ४. जिसके उदय में शरीराकार, कुबड़ा होता है, वह ***कुब्जक संस्थान*** है। ५. जिसके उदय में शरीराकार, ठिगना होता है, वह ***वामन संस्थान*** है। ६. जिसके उदय में शरीराकार, विद्रूप, अत्यंत बेडौल, अवक्तव्याकार होता है, वह ***हुण्डक संस्थान नामकर्म*** है।

जिसके उदय में शरीर में अंगोपांगों का भेद होता है, वह अंगोपांग नामकर्म है। इसके तीन भेद हैं—***औदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीर अंगोपांग नामकर्म*** ।

जिसके उदय में हड्डिओं के बंधन की विशेषता होती है, वह संहनन नामकर्म है। इसके छह भेद हैं—***१.*** जिसके उदय में वृषभ/वेष्ठन और नाराच/कील वज्रवत् अभेद्य होता है, वह ***वज्रवृषभनाराच संहनन*** है। ***२.*** जिसके उदय में नाराच वज्रवत् अभेद्य होता है; परन्तु वृषभ सामान्य ही होता है, वह ***वज्र नाराच संहनन*** है। ***३.*** जिसके उदय में हड्डिओं की संधिआँ नाराच से कीलित होती हैं, वह ***नाराच संहनन*** है। ४. जिसके उदय में हड्डिओं की संधिआँ नाराच से अर्ध कीलित होती हैं, वह ***अर्धनाराच संहनन*** है। ५. जिसके उदय में हड्डिओं की

सन्धिआँ परस्पर कीलित होती हैं, वह ***कीलित संहनन*** है। ६. जिसके उदय में सरीसृप के समान पृथक्-पृथक् हड्डिआँ नसों से बँधीं हुईं रहतीं हैं, वह ***असम्प्राप्ता-सृपाटिका संहनन नामकर्म*** है।

जिसके उदय में शरीर का विशिष्ट वर्ण होता है, वह ***वर्ण नामकर्म*** है। इसके पाँच भेद हैं—कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत वर्ण नामकर्म।

जिसके उदय में शरीर की विशिष्ट गन्ध होती है, वह गन्ध नामकर्म है। इसके दो भेद हैं—***सुरभि, दुरभि गन्ध नामकर्म*** ।

जिसके उदय में शरीर का विशिष्ट रस होता है, वह ***रस नामकर्म*** है। इसके पाँच भेद हैं—***तिक्त, कटुक, कषायला, आम्ल, मधुर रस नामकर्म*** ।

जिसके उदय में शरीर का विशिष्ट स्पर्श होता है, वह ***स्पर्श नामकर्म*** है। इसके आठ भेद हैं—***कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष स्पर्श नामकर्म*** ।

जिसके उदय में पूर्व शरीराकारवत् आत्मप्रदेशों के आकार का नाश नहीं होता है, वह ***आनुपूर्व्य नामकर्म*** है। इसके गति के अनुसार ही चार भेद हैं—***नरकगति-प्रायोग्यानुपूर्व्य, तिर्यंचगति-प्रायोग्या-नुपूर्व्य, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्व्य, देवगति-प्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म*** । नरकगति प्राप्त होने-योग्य पंचेंद्रिय पर्याप्तक जीव का विग्रह-गति में ऐसा ही आकार रहना, नरकगति-प्रायोग्यानुपूर्व्य है। इसीप्रकार शेष तीन में भी घटित कर लेना चाहिए।

जिसके उदय में लोहे के पिण्ड-समान, अत्यंत भारी और आक के फूल-समान, अत्यंत हल्का शरीर नहीं होता है, वह ***अगुरुलघु नामकर्म*** है। जिसके उदय में स्वयं के लिए कष्ट-दायक बड़े सींग, लम्बे स्तन, मोटा उदर आदि अंग होते हैं, वह ***उपघात नामकर्म*** है।

जिसके उदय में दूसरों के लिए कष्ट-दायक तीखे सींग, नुकीले नख-दाँत, जहर-युक्त दाढ, डंक आदि अंग होते हैं, वह ***परघात नामकर्म*** है।

जिसके उदय में मूल शीतल, प्रभा ऊष्णरूप आतप शरीर बनता है, वह ***आतप नामकर्म*** है। इसका उदय सूर्य-बिम्ब में उत्पन्न होने वाले बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीव के होता है। जिसके उदय में

मूल, प्रभा—दोनों ही शीतलतारूप उद्योत शरीर बनता है, वह ***उद्योत नामकर्म*** है। इसका उदय चन्द्र-बिम्ब में उत्पन्न होने वाले बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक, जुगनू आदि जीवों के होता है। जिसके उदय में विहाय/आकाश में गमन होता है, वह ***विहायोगति नामकर्म*** है। इसके दो भेद हैं—***प्रशस्त, अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म***।

जिसके उदय में दो इंद्रिय आदि में जन्म होता है, वह ***त्रस नामकर्म*** है। जिसके उदय में दूसरों को रोकने वाला और दूसरों से रुकने वाला शरीर बनता है, वह ***बादर नामकर्म*** है। जिसके उदय में आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन रूप पर्याप्ति बनती है, वह ***पर्याप्त नामकर्म*** है। शरीरादि नामकर्म के उदय में बना हुआ शरीर, जिसके उदय में एक आत्मा के उपभोग का कारण होता है, एक शरीर में एक ही जीव होता है, वह ***प्रत्येक शरीर नामकर्म*** है। जिसके उदय में रस, रक्त, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा, शुक्र—ये सात धातुएं और वात, पित्त, श्लेष्म, सिरा, स्नायु, चर्म, उदराग्नि—ये सात उपधातुएं अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहती हैं, वह ***स्थिर नामकर्म*** है।

जिसके उदय में शरीर के मस्तक आदि अवयव मनोज्ञ, रमणीय, प्रशस्त होते हैं, वह ***शुभ नामकर्म*** है। जिसके उदय में अपने से अन्य जीव प्रीति करते हैं, वह ***सुभग नामकर्म*** है। जिसके उदय में मनोज्ञ, सुहावना, स्वर, शब्द उत्पन्न होता है, वह ***सुस्वर नामकर्म*** है। जिसके उदय में शरीर प्रभा/कांतिमय होता है, वह ***आदेय नामकर्म*** है। जिसके उदय में अपना पुण्यरूप पवित्र गुण जगत में प्रगट होता है, यश फैलता है, वह ***यशस्कीर्ति नामकर्म*** है। जिसके उदय में शरीर, यथा-योग्य निर्मित होता है, वह ***निर्माण नामकर्म*** है। इसके दो भेद हैं—स्थान निर्माण, प्रमाण निर्माण। जाति नामकर्म के उदय की सापेक्षता पूर्वक जिसके उदय में नेत्रादि की रचना, यथा-स्थान होती है, वह स्थान निर्माण नामकर्म है। पूर्वोक्त पूर्वक जिसके उदय में नेत्रादि की रचना प्रमाणानुसार होती है, वह प्रमाण निर्माण नामकर्म है।

जिसके उदय में श्रीमत् अरहंत पद की कारणभूत योग्यता व्यक्त होती है, वह ***तीर्थंकर नामकर्म*** है।

जिसके उदय में पृथ्वी-कायिक आदि एकेंद्रिय में जन्म होता है,

वह ***स्थावर नामकर्म*** है। जिसके उदय में दूसरों को नहीं रोकने वाला और दूसरों से नहीं रुकने वाला शरीर बनता है, वह ***सूक्ष्म नामकर्म*** है। जिसके उदय में आहारादि छह पर्याप्तिआँ पूर्ण नहीं होती हैं, वह ***अपर्याप्ति नामकर्म*** है। शरीर नामकर्म के उदय में बने हुए जिस शरीर में अनन्त जीव एक साथ रहते हैं, जिसके उदय में वह अनन्त जीवों के उपभोग का कारण होता है, वह ***साधारण नामकर्म*** है। इसका उदय निगोद जीवों के होता है। जिसके उदय में धातु-उपधातु स्थिर नहीं रहती हैं, चलायमान हो जाती हैं, वह ***अस्थिर नामकर्म*** है।

जिसके उदय में शरीर के मस्तक आदि अवयव अमनोज्ञ, अरमणीय, अप्रशस्त होते हैं, वह ***अशुभ नामकर्म*** है। रूपादि गुण संयुक्त होने पर भी जिसके उदय में अन्य जीव अपने से प्रीति नहीं करते हैं, वह ***दुर्भग नामकर्म*** है। जिसके उदय में अमनोज्ञ, असुहावना, स्वर, शब्द उत्पन्न होता है, वह ***दुःस्वर नामकर्म*** है। जिसके उदय में प्रभा/कांति से रहित शरीर होता है, वह ***अनादेय नामकर्म*** है। जिसके उदय में अपना पुण्यरूप पवित्र गुण जगत में प्रगट नहीं होता, अपयश फैलता है, वह ***अयशस्कीर्ति नामकर्म*** है।

नामकर्म की ये तेरानबे उत्तर-प्रकृतिआँ हैं।

जिसके उदय में लोक-पूजित उच्च, प्रशंसनीय संस्कार होते हैं, वह उच्च-गोत्रकर्म है। जिसके उदय में लोक-निन्दित, नीच, तिरस्कार-योग्य संस्कार होते हैं, वह नीच-गोत्रकर्म है।

गोत्रकर्म की ये दो उत्तर-प्रकृतिआँ हैं।

देने की इच्छा होने पर भी जिसके उदय में दे नहीं पाता है, वह ***दानान्तराय कर्म*** है। लाभ की इच्छा होने पर भी जिसके उदय में लाभ प्राप्त नहीं होता है, वह ***लाभान्तराय कर्म*** है। भोजनादि को भोगने की इच्छा होने पर भी जिसके उदय में भोग नहीं हो पाता है, वह ***भोगान्तराय कर्म*** है। वस्त्रादि को उपभोग/बारम्बार भोगने की इच्छा होने पर भी जिसके उदय में उपभोग नहीं कर पाता है, वह ***उपभोगान्तराय कर्म*** है। अपनी शक्ति प्रगट करने की इच्छा होने पर भी जिसके उदय में शक्ति प्रगट नहीं हो पाती है, वह ***वीर्यान्तराय कर्म*** है।

अन्तराय कर्म ये की पाँच उत्तर-प्रकृतिआँ हैं।

इसप्रकार ज्ञानावरणादि आठ मूल-कर्मों की मति-ज्ञानावरणादि एक सौ अड़तालीस उत्तर-प्रकृतिआँ हैं।

प्रश्न ४४ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.कर्मों के भेद-प्रभेद सीमित हैं अर्थात् उनके बंध में निमित्त होनेवाले विभाव भी सीमित हैं और इस स्थिति में भी अनंत सामर्थ्य-सम्पन्न ज्ञानानन्द-स्वभावी निज भगवान आत्मा,सतत एकरूप विद्यमान है—यह समझ में आ जाने पर 'सेर के सामने सवा-सेर' की सूक्ति को चरितार्थ करते हुए यदि हम अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही लीनतारूप सम्यक् रत्नत्रयमय परिणमन करते हैं; तो विभाव के नाश से समस्त कर्मों का भी नाश हो जाता है।—इसप्रकार यह प्रकरण अनन्त सामर्थ्य-सम्पन्न आत्मा का आश्रय लेने के लिए प्रेरित करता है।

२.यद्यपि नामकर्म की सर्वाधिक प्रकृतिआँ हैं; तथापि उनमें से किसी भी कर्म-प्रकृति संबंधी औदयिक भाव, नवीन कर्म-बंध का कारण नहीं है—यह समझ में आ जाने पर संख्या देखकर भय-भीत होने का भाव समाप्त हो जाता है।

३.इसी प्रकार इन १४८ या १५८ कर्म-प्रकृतिओं में से अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त होने वाली तो मात्र ४७ ही हैं और नवीन कर्म-बंध की निमित्त कारण तो मात्र २६ ही हैं—यह समझ में आ जाने से संख्या देखकर भय-भीत होने का भाव तो समाप्त हो ही जाता है, इसके साथ ही कर्म-बंध की कारणभूत प्रकृतिओं को नष्ट करने के लिए अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करने की प्रेरणा भी प्राप्त होती है; जिसकी सफलता में जीवन शुद्ध, सात्त्विक, अतींद्रिय आनन्दमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ४५ : २३ से २५ पर्यन्त ३ गाथाओं के आधार से पाँच निद्राओं का स्वरूप स्पष्टकर तत्त्वार्थसूत्र और प्रस्तुत ग्रंथ में निद्राओं के प्रतिपादन संबंधी क्रम-भिन्नता को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उन्हें बताने वाली वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

थीणुदयेणुट्ठविदे, सोवदि कम्मं करेदि जप्पदि य।
णिद्दाणिद्दुदयेण य, ण दिट्ठिमुग्घादिदुं सक्को।।२३।।
पयलापयलुदयेण य, बहेदि लाला चलंति अंगाइं।
णिद्दुदये गच्छंतो, ठाइ पुणो बइसइ पडेई।।२४।।
पयलुदयेण य जीवो, ईसुम्मीलिय सुवेइ सुत्तोवि।
ईसं ईसं जाणदि, मुहुं मुहुं सोवदे मंदं।।२५।।

स्त्यानगृद्धि में उठाने पर भी, सोता काम करे बोले।
निद्रानिद्रा के वश होकर, दृष्टि को भी न खोले।।२३।।
प्रचलाप्रचला नींद उदय में,बहती रहती मुख से लार।
अंगोपांग भी हिलते रहते,भान विना जीवन बेकार।।
निद्रा-वश हो चलता चलता, रुके खड़ा हो बैठे भी।
बैठे-बैठे गिर पड़ता है, पर न भान रहे कुछ भी।।२४।।
प्रचला-वश हो थोड़ी उघड़ी, आँखों से थोड़ा सोता।
सोते-सोते थोड़ा-थोड़ा, जाने बार-बार सोता।।२५।।

शब्दश: अर्थ : **थीण+उदयेण**=स्त्यानगृद्धि के उदय से, **उट्ठविदे**= उठाए/जगाए जाने पर भी, **सोवदि**=सोता है, **कम्मं**=कार्य, **करेदि**= करता है, **जप्पदि**=बोलता है, **य**=और, **णिद्दाणिद्दा+उदयेण**= निद्रा-निद्रा के उदय से, **ण**=नहीं, **दिट्ठिं**=दृष्टि को, **उग्घादिदुं**=उघाड़ने/ खोलने के लिए, **सक्को**=समर्थ।।२३।।

पयलापयला+उदयेण=प्रचलाप्रचला के उदय से, **बहेदि**=बहती है, **लाला**=लार, **चलंति**=चलते हैं, **अंगाइं**=(हाथ-पैर आदि) अंग, **णिद्दा+उदये**=निद्रा के उदय में, **गच्छंतो**=गमन करता/ चलता हुआ, **ठाइ**=खड़ा हो जाता है, **पुणो**=फिर, **वइसइ**=बैठ जाता है, **पडेई**=गिर पड़ता है।।२४।।

पयला+उदयेण=प्रचला के उदय से, **य**=और, **जीवो**=जीव, **ईसं+उम्मीलिय**=कुछ उघड़े/खुले हुए नेत्र कर, **सुवेइ**=सोता है, **सुत्तोवि**=सोता हुआ भी, **ईसं ईसं**=कुछ-कुछ, **जाणदि**=जानता है, **मुहुं मुहुं**=बारंबार, **सोवदे**=सोता है, **मंदं**=मंद/थोड़ा।।२५।।

अन्वय : थीण उदयेण उट्ठविदे सोवदि कम्मं करेदि य जप्पदि य णिद्दाणिद्दा उदयेण दिट्ठिं उग्घादिदुं सक्को ण।

पयलापयला उदयेण लाला वहंति अंगाइं चलंति य णिद्दा उदये गच्छंतो ठाइ वइसइ पुणो पडेई।

य पयला उदयेण जीवो ईसं उम्मीलिय सुवेइ सुत्तो वि ईसं ईसं जाणदि मुहुं मुहुं मंदं सोवदे।

सरलार्थ : स्त्यानगृद्धि (नामक दर्शनावरण) के उदय से उठाए/जगाए जाने पर भी सोता है; सोते-सोते ही कुछ कार्य करता है और बोलता है/बड़बड़ाता है तथा निद्रानिद्रा (नामक दर्शनावरण) के उदय से नेत्र खोलने के लिए भी समर्थ नहीं हो पाता है।

प्रचलाप्रचला (नामक दर्शनावरण) के उदय से लार बहती है, (हाथ-पैर आदि) अंग चलते/हिलते रहते हैं। निद्रा (नामक दर्शनावरण) के उदय में गमन करता/चलता हुआ भी खड़ा हो जाता है, फिर बैठ जाता है, गिर पड़ता है/लेट जाता है।

प्रचला (नामक दर्शनावरण) के उदय से जीव कुछ-कुछ सोता है, सोता हुआ भी कुछ-कुछ जानता है तथा बारंबार मंद-मंद सोता है।

स्पष्टीकरण : पदार्थों का सामान्य प्रतिभास करनेरूप दर्शनोपयोग के घात में निमित्त होने वाले दर्शनावरण कर्म की नौ उत्तर-प्रकृतिआँ हैं— १.केवल-दर्शनावरण, २.अवधि-दर्शनावरण, ३.चक्षु-दर्शनावरण, ४. अचक्षु-दर्शनावरण, ५.स्त्यानगृद्धि-दर्शनावरण, ६. निद्रानिद्रा-दर्शनावरण, ७.प्रचलाप्रचला-दर्शनावरण, ८.निद्रा दर्शनावरण और ९. प्रचला-दर्शनावरण।

केवल-ज्ञानोपयोग के साथ होनेवाले, समस्त लोकालोक का युगपत् प्रतिभास करनेवाले, केवल-दर्शनोपयोग के घात में निमित्त होनेवाले कर्म को केवल-दर्शनावरण कर्म कहते हैं।

अवधि-ज्ञानोपयोग के पूर्व होनेवाले अवधि-दर्शनोपयोग के घात में निमित्त होनेवाले कर्म को अवधि-दर्शनावरण कर्म कहते हैं।

चक्षु इंद्रिय संबंधी मति-ज्ञानोपयोग के पूर्व होनेवाले चक्षु-दर्शनोपयोग के घात में निमित्त होनेवाले कर्म को चक्षु-दर्शनावरण कर्म कहते हैं।

अचक्षु अर्थात् चक्षु को छोड़कर शेष चार इंद्रिय और मन संबंधी मति-ज्ञानोपयोग के पूर्व होनेवाले अचक्षु-दर्शनोपयोग के घात में

निमित्त होनेवाले कर्म को अचक्षु-दर्शनावरण कर्म कहते हैं।

शेष पाँच भेद, निद्रा संबंधी हैं; जिनका उदय होने पर तदनुसार नींद आती है।

स्त्यानगृद्धि-दर्शनावरण के उदय में ऐसी तीव्र/गहरी नींद आती है कि वह उठाए जाने पर उठ भी नहीं पाता है, सोते-सोते ही अनेकानेक कार्य कर लेता है, बड़बड़ाता रहता है। यह सर्वाधिक तीव्रतम निद्रा है। स्त्यान=नींद/सोना, गृद्धयते इति गृद्धि: अर्थात् जिस नींद/सोने में अति-गृद्धता होती है; आर्त-रौद्र परिणाम-युक्त अनेक क्रियाएं होती हैं, उसे स्त्यानगृद्धि निद्रा कहते हैं।

निद्रानिद्रा-दर्शनावरण के उदय में आनेवाली नींद इतनी तीव्रतर होती है कि जिसमें आँख खोलने का प्रयास करने पर भी आँखें नहीं खोल पाता है।

प्रचलाप्रचला-दर्शनावरण के उदय में आनेवाली नींद में शरीर का भान नहीं रहता है। मुख से लार बहती रहती है, हाथ-पैर आदि हिलते रहते हैं। यह भी अति तीव्र निद्रा ही है।

निद्रा-दर्शनावरण के उदय में आनेवाली नींद तो ऐसी नींद है कि जिसमें निद्रा-सम्पन्न व्यक्ति चलते-चलते रुक जाए/खड़ा हो जाए, उसी निद्रा के वेग में खड़े-खड़े फिर बैठ जाए, बैठे-बैठे गिर पड़े/आड़ा हो जाए; फिर भी कुछ भान नहीं रहता है। यह भी तीव्र वेगवाली निद्रा ही है।

प्रचला नामक दर्शनावरण के उदय में आने वाली नींद में जीव कुछ-कुछ सोता रहता है, सोते-सोते ही वह कुछ-कुछ जानता भी रहता है और बारंबार मंद-मंद सोता रहता है। इसमें व्यक्ति कुछ खुली आँखों से सोता है। ऊँघने आदि की स्थिति इसी निद्रा में बनती है। इसे अन्य की तुलना में कुछ मंद नींद भी कहते हैं। यह 'श्वाननिद्रा' नाम से भी प्रसिद्ध है।

इसप्रकार दर्शनावरण के उदय में तीव्र-मंद आदि विविध रूपों वाली निद्रा से घिरकर व्यक्ति असावधान हो जाता है।

प्रस्तुत ग्रंथ गोम्मटसार कर्मकाण्ड और तत्त्वार्थसूत्र में निद्राओं का क्रम पृथक्-पृथक् है। प्रस्तुत ग्रंथ का क्रम तो हमने समझ ही

लिया है—स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, निद्रा और प्रचला।

तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय के सातवें सूत्र में इन निद्राओं को इस क्रम से बताया गया है—निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि।

इस क्रम-परिवर्तन का कारण मात्र इतना ही है कि प्रस्तुत ग्रंथ में निद्राओं के अनुभाग की अपेक्षा 'तीव्रता से मंदता की ओर' वाले क्रम को मुख्यता दी गई है और तत्त्वार्थसूत्र में वर्णानुक्रम को लक्षित कर क्रम दिया गया है।

प्रश्न ४६ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.दर्शनावरण कर्म की निद्रा संबंधी प्रकृतिओं के उदय में निद्रा आती है। दर्शनावरण कर्म, अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त होनेवाले घाति-कर्म का एक भेद है; अत: इसके कार्य को अच्छा/सुखमय मानना, स्वभाव के घात को अच्छा/सुखमय मानना हुआ; कर्म-बन्ध को अच्छा मानना हुआ—यह समझ में आ जाने पर नींद को अच्छा/सुखमय माननेरूप विपरीत मान्यता नष्ट हो जाती है।

२.इसी समझ के बल पर नींद के लिए किए जानेवाले प्रयास के रूप में नींद की गोली, इंजेक्शन आदि लेना इत्यादि जीव-घातमय अभक्ष्य-सेवन के भाव नष्ट होकर जीवन शुद्ध, सात्त्विक, अहिंसक, सदाचारमय हो जाता है।

३.जब सभी निद्राएं दर्शनावरण के उदय में ही आती हैं तब उनमें से किसी को भी अच्छा कैसे माना जा सकता है ? यह समझ में आ जाने पर उनके प्रति आसक्ति नष्ट हो जाती है।

४.इसी आधार पर नींद आने के कारणों से बुद्धि-पूर्वक दूर रहने की दिशा में पुरुषार्थ जागृत होता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी 'स्वयम्भू-स्तोत्र' में शीतलनाथ भगवान का स्तवन करते हुए लिखते हैं—

"स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया,
दिवाश्रमार्ता निशि शेरते प्रजा:।

अपने जीवन और पंचेंद्रिय विषय-सुख की तृष्णा से दिनभर परिश्रम करते रहने के कारण दुखी/थकित प्राणी रात्रि में सो जाते हैं।"

अर्थात् निद्रा का मूल कारण शारीरिक और मानसिक थकान है। इस थकान का भी मूल कारण है वस्तु की परिणमन-व्यवस्था के विरुद्ध चलनेवाला हमारा निरर्थक षड़-यंत्र।

अनादि-अनंत जीवंत भगवान आत्मा होने पर भी, अपराधों की सजा भोगने के लिए प्राप्त हुई इस असमान-जातीय द्रव्य-पर्याय को ही अपना जीवन मानकर उसे स्थाई रखने के निरर्थक प्रयासों से तथा पंचेंद्रिय विषय-भोगों को जोड़ने-भोगने के निरर्थक प्रयासों से, कर्तृत्व के विकल्पों से, शारीरिक-मानसिक थकान का वेदन करते हुए, उसे नष्ट करने के लिए हम नींद लेना चाहते हैं।

यदि हम वस्तु के यथार्थ-स्वरूप का निर्णयकर, कर्तृत्व के विकल्पों को विश्राम देकर, तीव्र भेद-विज्ञान के बल पर वस्तु-स्वरूप के अनुरूप अपना श्रद्धान-ज्ञान-आचरण बनाते हैं तो भूमिकानुसार यथा-योग्य थकान से बच जाने के कारण आत्म-स्वभाव-घातक नींद से भी बच जाते हैं।

५.निद्रा, जीव का विभाव भाव है, कर्म-कृत परिणाम है—यह समझकर उसकी प्रत्येक परिस्थिति को सहज स्वीकार कर, उससे सतत भेद-विज्ञान करते रहने की प्रेरणा मिलती है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ४७ : गाथा २६ के आधार पर दर्शनमोहनीय के भेद बताइए?

उत्तर : उन्हें बताने वाली वह गाथा इसप्रकार है—

जंतेण कोद्दवं वा, पढमुवसमसम्मभावजंतेण।
मिच्छं दव्वं तु तिधा, असंखगुणहीणदव्वकमा।।२६।।

जैसे जाँते से दलने पर, कोदों होता तीन प्रकार।
वैसे प्रथमोपशम सम्यक् से दरशमोह हो तीन प्रकार।।
असंख्यात गुणहीन द्रव्य के क्रम से मिलता उन्हें विभाग।
है मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म सम्यक्त्व विभाग।।२६।।

शब्दश: अर्थ : **जंतेण**=जाँते/चक्की/यंत्र से दले हुए, **कोद्दवं**=कोदों के, **वा**=समान, **पढम+उवसम**=प्रथमोपशम, **सम्मभावजंतेण**= सम्यक्त्व-भावरूपी यंत्र के द्वारा, **मिच्छं दव्वं**=मिथ्यात्वरूपी द्रव्य, **तु**=वास्तव में, **तिधा**=तीन प्रकार का, **असंखगुणहीणदव्वकमा**=

असंख्यात-गुण-हीन द्रव्य-क्रम से।।२६।।

अन्वय : जंतेण कोद्दवं वा पढम उवसम-सम्म-भाव-जंतेण तु मिच्छं दव्वं असंखगुण-हीण-दव्वकमा तिधा।

सरलार्थ : चक्की से दले हुए कोदों के समान, प्रथमोपशम-सम्यक्त्व भावरूपी यंत्र/चक्की द्वारा दले जाने पर मिथ्यात्वरूपी कर्म-द्रव्य असंख्यात-गुणा हीन द्रव्य क्रम से तीन भागों में विभक्त हो जाता है।

स्पष्टीकरण : जैसे मदोत्पादक धान्य-विशेष कोदों को चक्की से दलने पर उसके तीनरूप हो जाते हैं—एक तो ऐसा कोदों, जिस पर से छिलका पूर्णतया पृथक् हो गया है। इसे कुदई भी कहते हैं। इसमें मादक-क्षमता सर्वाधिक होती है। दूसरा ऐसा कोदों जो खण्डित तो हो गया है; परन्तु कुछ छिलके-सहित भी है। इसमें पहले की अपेक्षा मादक-क्षमता कम है। तीसरा भाग, मात्र छिलके रूप है। इसमें मादक-क्षमता अत्यल्प या नगण्य-प्राय है।

इसीप्रकार मोहनीय-कर्म का एक भेद दर्शनमोहनीय प्रथमोपशम-सम्यक्त्वरूपी यंत्र द्वारा दले जाने पर तीन भागों में विभक्त हो जाता है—मिथ्यात्व-दर्शनमोहनीय, सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र-दर्शनमोहनीय और सम्यक्त्व-दर्शनमोहनीय। इन तीनों में कर्म परमाणु और फलदान क्षमता उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी-असंख्यातगुणी हीन होती जाती है। सर्वाधिक परमाणु और फलदान-क्षमता मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीय प्रकृति में है। उससे असंख्यात-गुणे हीन कर्म-परमाणु और असंख्यात-गुणी हीन फलदान-क्षमता सम्यग्मिथ्यात्व नामक दर्शन-मोहनीय प्रकृति में है और उससे भी असंख्यात-गुणे हीन कर्म-परमाणु तथा फलदान-क्षमता सम्यक्त्व नामक दर्शन-मोहनीय प्रकृति में है।

जीव की अपने त्रैकालिक ज्ञानानन्द-स्वभाव की अपनत्वरूप से रुचि नहीं करने संबंधी श्रद्धागत असावधानी और स्वरूप-स्थिर नहीं रहने संबंधी चारित्रगत असावधानी में निमित्तभूत मोहनीय-कर्म के मूल में दो भेद हैं—दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय। दर्शन-मोहनीय के मात्र सत्ता और उदय की अपेक्षा तीन भेद तथा चारित्र-मोहनीय के कषाय और नोकषाय की अपेक्षा पच्चीस भेद—इसप्रकार मोहनीय के कुल अट्ठाईस भेद हैं। वे इसप्रकार—

इनमें से प्रस्तुत गाथा में दर्शन-मोहनीय के तीन भेदों की चर्चा है। जीव की अपने स्वरूप संबंधी परिपूर्ण असावधानता का निमित्त पाकर, श्रद्धा के विपरीत परिणमन में निमित्त होनेवाला, कार्मण-वर्गणा का कर्मरूप परिणमन, दर्शन-मोहनीय है। बंध के समय इसके कोई भेद नहीं होने से अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के यह एक प्रकृति ही बंध, सत्त्व, उदय रूप होती है।

जब यह अंतरंग-बहिरंग पाँच समवायों की उपस्थिति में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा आदि प्रयोजनभूत तत्त्वों को सुनकर, समझकर, उनका निर्णयकर, स्व-पर का भेद-विज्ञान करता हुआ पाँच लब्धिओं के चरम-बिन्दु अनिवृत्तिकरण को भी पारकर अंत:करण पूर्वक उपशमकरण को प्राप्त होता है, अपने आत्मा में ही अभेद/एकाकाररूप में निर्विकल्प स्थिरता प्राप्त करता है; तब इन प्रथमोपशम-सम्यक्त्वरूप परिणामों का निमित्त पाकर दर्शन-मोहनीयकर्म तीन भागों में विभक्त हो जाता है—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व-प्रकृति। इसप्रकार इस समय से इस जीव के संयोग में दर्शन-मोहनीय की तीन प्रकृतिआँ सत्ता में हो जाती हैं। इन तीनों का स्वरूप क्रमश: इसप्रकार है—

१.मिथ्यात्व-दर्शनमोहनीय : जिस प्रकृति के उदय में जीव अपने स्वभाव की सम्यक् श्रद्धा/अपनत्वरूप से अपने भगवान आत्मा को स्वीकार नहीं कर पाता है/तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान नहीं कर पाता है,

उसे मिथ्यात्व-दर्शनमोहनीय कहते हैं।

२.सम्यग्मिथ्यात्व-दर्शनमोहनीय : जिस प्रकृति के उदय में जीवादि तत्त्वों का सम्यक्-मिथ्या—दोनों रूप एक मिश्र/जात्यंतर श्रद्धान होता है, उसे सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र-दर्शनमोहनीय कहते हैं।

३.सम्यक्त्व-दर्शनमोहनीय : जिस प्रकृति के उदय में जीवादि तत्त्वों का, अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा का अपनत्वरूप से सम्यक् श्रद्धान होने पर भी उस श्रद्धान में चल, मलिन, अगाढ़—ये तीन दोष लगते रहते हैं, उसे सम्यक्त्व-दर्शनमोहनीय कहते हैं।

दो द्रव्यों का पृथक्-पृथक् परिणमन होने से प्रथमोपशम-सम्यक्त्व की उत्पत्ति और दर्शनमोहनीय का विभाजन—ये दोनों कार्य एक ही समय में घटित होते हैं। इन दोनों में काल-प्रत्यासत्तिरूप, स्वतन्त्रता का उद्घोषक, सहचर, निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

प्रश्न ४८ : भेद-सहित औपशमिक भाव का संक्षिप्त स्वरूप लिखिए?

उत्तर : आत्मा के जिन शुद्ध परिणामों का निमित्त पाकर मोहनीय कर्म का उपशम होता है, उन्हें औपशमिक भाव कहते हैं। इसके दो भेद हैं—औपशमिक-सम्यक्त्व और औपशमिक-चारित्र।

औपशमिक-सम्यक्त्व : मुख्यतया श्रद्धा गुण के जिस परिणाम का निमित्त पाकर दर्शनमोहनीय आदि प्रकृतिओं का उपशम होता है, उसे औपशमिक-सम्यक्त्व कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं—प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम।

प्रथमोपशम-सम्यक्त्व : जिस सम्यक्त्व का निमित्त पाकर दर्शनमोहनीय की एक, दो या तीन और अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ—इन पाँच, छह या सात प्रकृतिओं का उपशम होता है, उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व : अप्रत्याख्यानावरण आदि चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतिओं के उपशम-हेतु उपशमश्रेणी आरोहण के पूर्व क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव को अनंतानुबंधी की विसंयोजना पूर्वक जो उपशम सम्यक्त्व होता है, वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व है।

औपशमिक-चारित्र : आत्मा के जिन शुद्ध-परिणामों का निमित्त पाकर चारित्र-मोहनीय का उपशम होता है, उन्हें औपशमिक-चारित्र

कहते हैं।

इसप्रकार आठ कर्मों में से मात्र मोहनीय कर्म का ही उपशम होने के कारण औपशमिक भाव के औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक-चारित्र—ये दो भेद हो जाते हैं।

प्रथमोपशम व द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में निम्नलिखित अंतर है—

प्रथमोपशम सम्यक्त्व	द्वितीयोपशम सम्यक्त्व
१. धर्म का प्रारंभ इससे ही होता है।	यह धर्म प्रारंभ होने के बाद होता है।
२. यह चारों गतिओं में संज्ञी पर्याप्तक जीव के होता है।	यह चौथे से सातवें गुणस्थानवर्ती साधु के ही उत्पन्न होता है।
३. यह चौथे से सातवें गुणस्थान पर्यन्त ही विद्यमान रहता है।	यह चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त विद्यमान रहता है।
४. यह मिथ्यात्व दशा के अभाव पूर्वक होता है।	यह क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व के अभाव पूर्वक होता है।
५. इसमें अनंतानुबंधी का मात्र अनुदय रूप उपशम होता है।	इसमें अनंतानुबंधी की विसंयोजना हो जाती है।
६. इसमें मरण नहीं होता है।	इसमें मरण हो सकता है।
७. यह अपर्याप्तक अवस्था में नहीं होता है; रहता भी नहीं है।	यह देवगति की अपर्याप्तक अव-स्था में रह सकता है।
८. यह अर्ध पुद्गल परावर्तन काल में उत्कृष्टतया असंख्यात बार हो जाता है।	यह एक भव में दो बार तथा भव-चक्र में कुल चार बार ही हो सकता है।
९. एक बार प्रथमोशम-सम्यक्त्व होने के बाद पुनः प्रथमोशम-सम्यक्त्व असंख्यात वर्ष के बाद ही हो सकता है।	यह अन्तर्मुहूर्त बाद ही पुनः हो सकता है।
१०. अंतर्मुहूर्त होने पर भी इसका काल कम है।	इसका काल प्रथमोपशम से संख्यात गुणा अधिक है।
११. इसमें त्रिकरण परिणामों की शुद्धि, हीन है।	इसमें उसकी अपेक्षा उनकी शुद्धि, अनंतगुणी अधिक है।

इत्यादि अनेक प्रकार से इन दोनों सम्यक्त्वों में अन्तर है।

प्रश्न ४९ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.किसी भी कार्य को सिद्ध करने की साम, दाम, दण्ड, भेदरूप चार नीतिआँ सर्व-मान्य हैं। शत्रुपक्ष बलवान होने पर, उस पर विजय पाने में प्रारम्भिक तीन नीतिआँ भले ही निष्फल हो जाएँ; परन्तु भेद-नीति सर्वथा सफलतम नीति है। इस प्रकरण में भी इसी नीति का अवलम्बन लिया गया है।

मोहनीय कर्म का कार्य, मदिरा-जैसा होने के कारण निमित्तरूप में सर्वाधिक भयंकरता, इस कर्म की है। जीव की असावधान स्थिति में इस कर्म के उदय में होनेवाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भाव ही नवीन कर्म-बंध के एक-मात्र कारण हैं। यदि यह जीव ज्ञानानन्द-स्वभावी अनन्त वैभव-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, अन्तरोन्मुखी अनन्त पुरुषार्थ द्वारा उसमें ही लीन होता है, तो इस शुद्ध भाव का निमित्त पाकर दर्शनमोहनीय कर्म विभक्त हो जाता है। उसके परमाणु तथा फलदान-शक्ति—दोनों ही तीन भागों में बँट जाते हैं; जिससे उसकी शक्ति कमजोर हो जाने के कारण निकट भविष्य में उसका सर्वथा क्षय अवश्यंभावी है। परिणाम-स्वरूप शेष कर्म भी नष्ट होकर मुक्त-दशा प्रगट हो जाती है।

यह समझ में आ जाने से आत्मार्थी जीव का अन्तरोन्मुखी अनन्त पुरुषार्थ जागृत होता है। (अपने से भिन्न अनन्त पर-पदार्थों को अपनत्वरूप से पूर्णतया अर्थात् एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सभी रूपों में अस्वीकार करने का प्रयास और अनन्त वैभव-संपन्न अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से पूर्णतया स्वीकार करने का प्रयास ही अनन्त पुरुषार्थ है।)

२.पर से पूर्ण निरपेक्ष रहते हुए, स्वयं में पूर्ण स्वतंत्रता-स्वाधीनता से सहज परिणमनरूप अपना-अपना कार्य करते हुए भी काल-प्रत्यासत्ति के कारण बननेवाले सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध का भी परिज्ञान इस प्रकरण से हो जाता है। जीव का अपनी सीमा में अपना कार्य हुआ

है; उसीसमय कर्म का उसकी अपनी सीमा में उसका अपना कार्य हुआ है; दोनों कार्यों को एक साथ होता हुआ देखकर सर्वज्ञ भगवान ने भी यह कह दिया कि प्रथमोपशम-सम्यक्त्व से दर्शनमोहनीय कर्म तीन भागों में विभक्त हो गया है; तथापि सर्वज्ञ भगवान यह प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि कर्म में विभाजन उसकी अपनी स्वतन्त्र योग्यता से हुआ है, जीव के शुद्ध परिणमन के कारण नहीं। निमित्त होता अवश्य है, उसका स्वयं में अपना कार्य भी हो रहा है; तथापि नैमित्तिक रूप कार्य में उसका कुछ भी वास्तविक कर्तृत्व नहीं है। मात्र दोनों में पृथक्-पृथक् कार्य एक समय में हो जाने के कारण तथा एक दूसरे के अनुकूल होने के कारण निमित्त-नैमित्तिक संबंध का व्यवहार प्रचलित है।—यह समझ में आ जाने पर इस संबंधी समस्त विपरीत मान्यताएं, एकांत, दुराग्रह नष्ट होकर जीवन सहज सम्यक् श्रद्धा-सम्पन्न हो जाता है।

३.इस प्रकरण से अत्यंत विशद केवलज्ञान की महिमा जागृत होती है; जिससे सर्वज्ञ भगवान की महिमा तो जागृत होती ही है, उनका स्वरूप तो अपनी दृष्टि में स्पष्ट होता ही है; साथ ही उनके समान सर्वज्ञ-स्वभावी अपने भगवान आत्मा की भी महिमा जागृत होती है; जिससे पदार्थों के प्रति होनेवाला आकर्षण का भाव नष्ट होकर स्वरूप-स्थिरता की दिशा में सम्यक् पुरुषार्थ जागृत होता है।

४.दर्शनमोहनीय का विभाजन एक-मात्र प्रथमोपशम-सम्यक्त्व से ही होता है; इसके बाद ही अन्य कर्म नष्ट होते हैं—यह समझ में आ जाने पर, अन्य सब निरर्थक क्रिया-कलापों से दृष्टि हटकर, तत्त्वों का सम्यक् निर्णयकर, भेद-विज्ञान पूर्वक अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से स्वीकार करने की दिशा में सम्यक् पुरुषार्थ जागृत होता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ५० : गाथा २७ के आधार पर शरीर के १५ भेदों को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : वह गाथा इसप्रकार है—

तेजाकम्मेहिं तिए, तेजा कम्मेण कम्मणा कम्मं।
कय-संजोगे चदु-चदु चदु-दुगमेक्कं च पयडीओ।।२७।।
तैजस कार्मण साथ मिला, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक।
चार चार अरु चार तथा दो एक मिला होते पंद्रह।।२७।।

शब्दश: अर्थ : **तेजाकम्मेहिं**=तैजस-कार्मण के साथ, **तिए**=औदारिक आदि तीन का, **तेजा**=तैजस का, **कम्मेण**=कार्मण के साथ, **कम्मणा**= कार्मण के साथ, **कम्मं**=कार्मण का, **कयसंजोगे**=संयोग करने पर, **चदु**=चार, **चदु**=चार, **चदु**=चार, **दुगं**=दो, **एक्कं**=एक, **च**=और, **पयडीओ**=प्रकृतिआँ।।२७।।

अन्वय : तिए तेजाकम्मेहिं संजोगे कय चदु-चदु-चदु तेजा कम्मेण संजोगे कय दुग य कम्मं कम्मणा संजोगे कय एक्कं पयडीओ।

सरलार्थ : औदारिक, वैक्रियिक और आहारक—इन तीन शरीरों का तैजस और कार्मण के साथ; तैजस का कार्मण के साथ और कार्मण का कार्मण के साथ संयोग करने पर क्रमश: चार, चार, चार, दो और एक प्रकृतिआँ—इसप्रकार शरीर संबंधी १५ प्रकृतिआँ हो जाती हैं।

स्पष्टीकरण : शरीर के पाँच भेद हैं—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण। इनमें से औदारिक शरीर का तैजस, कार्मण के साथ संयोग करने पर औदारिक-औदारिक, औदारिक-तैजस, औदारिक-कार्मण और औदारिक-तैजस-कार्मण—ये चार भेद हो जाते हैं। वैक्रियिक का तैजस, कार्मण के साथ संयोग करने पर वैक्रियिक-वैक्रियिक, वैक्रियिक-तैजस, वैक्रियिक-कार्मण और वैक्रियिक-तैजस-कार्मण—ये चार भेद हो जाते हैं।

आहारक का तैजस, कार्मण के साथ संयोग करने पर आहारक-आहारक, आहारक-तैजस, आहारक-कार्मण, आहारक-तैजस-कार्मण—ये चार भेद हो जाते हैं। तैजस का कार्मण के साथ संयोग करने पर तैजस-तैजस और तैजस-कार्मण—ये दो भेद हो जाते हैं। कार्मण का कार्मण के साथ संयोग करने पर कार्मण-कार्मण—यह एक भेद हो जाता है। इसप्रकार औदारिक आदि पाँच शरीरों के औदारिक-औदारिक आदि पंद्रह उत्तर भेद हो जाते हैं। इनकी सारणी इसप्रकार है—

प्रश्न ५१ : इन १५ उत्तर शरीरों का स्वरूप, प्रयोजन/कार्य लिखिए?

उत्तर : इन शरीरों का स्वरूप, प्रयोजन या कार्य निम्नलिखित है—

१.औदारिक-औदारिक—एक साथ अपनी सभी रानिओं के साथ रमने, सैन्य-संचालन करने आदि के लिए चक्रवर्ती आदि के मूल-शरीर से

गाथा २७वीं के आधार पर औदारिकादि शरीरों के उत्तर भेद

क्रम	मूल शरीर नाम	उत्तर शरीर-भेद-नाम	योग
१.	औदारिक शरीर	औदारिक-औ.,औ.-तैजस,औ.-कार्मण,औ.-तै.-का.	४
२.	वैक्रियिक शरीर	वैक्रि.-वैक्रि., वैक्रि.-तैजस,वैक्रि.-कार्मण, वैक्रि.-तै.-का.	४
३.	आहारक शरीर	आहा.-आहा.,आहा.-तैजस,आहा.-कार्मण,आहा.-तै.-का.	४
४.	तैजस शरीर	तैजस-तैजस,तैजस-कार्मण	२
५.	कार्मण शरीर	कार्मण-कार्मण	१
मूल पाँच शरीर		*उत्तर पंद्रह शरीर*	*कुल १५*

बनने वाले अन्य शरीरों को औदारिक-औदारिक शरीर कहते हैं।

२.औदारिक-तैजस—तैजस समुद्घात के समय मुनिराज के शरीर से निकलने वाला शरीर पुतला, औदारिक तैजस शरीर है।

३.औदारिक-कार्मण—मारणान्तिक समुद्घात के समय भावि शरीर के स्थान का स्पर्श करने के लिए जाते हुए आत्म-प्रदेशों के साथवाला, कार्मण शरीर, औदारिक कार्मण शरीर है।

४.औदारिक-तैजस-कार्मण—औदारिक शरीर में से निकलने वाले तैजस शरीर के साथवाला कार्मण शरीर, औदारिक-तैजस-कार्मण शरीर कहलाता है।

५.वैक्रियिक-वैक्रियिक शरीर—क्रीड़ा आदि के लिए देवों द्वारा मूल वैक्रियिक शरीर से बनाया गया दूसरा शरीर, वैक्रियिक-वैक्रियिक शरीर है।

६.वैक्रियिक-तैजस—क्रोध के आवेश-वश देवों द्वारा बनाया गया तैजस शरीर, वैक्रियिक-तैजस शरीर है।

७.वैक्रियिक-कार्मण—देव-नारकिओं का मारणान्तिक समुद्घात के साथवाला कार्मण शरीर, वैक्रियिक-कार्मण शरीर है।

८.वैक्रियिक-तैजस-कार्मण—देवों के क्रोधावेश-वश निकले हुए तैजस शरीर के साथवाला कार्मण, वैक्रियिक-तैजस-कार्मण शरीर है।

९.आहारक-आहारक—संशय-निवृत्ति, तीर्थ-यात्रा आदि के लिए मुनिराज के शरीर से निकले हुए आहारक शरीर में से अन्य दिशा में गमन-हेतु निकला हुआ दूसरा आहारक शरीर, आहारक-आहारक

शरीर कहलाता है।

१०.आहारक-तैजस—निकले हुए आहारक शरीर के गमन-मार्ग में किन्हीं मुनि पर उपसर्गादि हुआ देखकर, उसके निवारणार्थ आहारक से निकला हुआ शुभ तैजस शरीर, आहारक-तैजस शरीर है।

११.आहारक-कार्मण—आहारक के साथवाला कार्मण शरीर, आहारक-कार्मण शरीर है।

१२.आहारक-तैजस-कार्मण—आहारक शरीर से निकले हुए तैजस शरीर के साथवाला कार्मणशरीर, आहारक-तैजस-कार्मण शरीर है।

१३.तैजस-तैजस—मित्र का उपकार करने, शत्रु का अपकार करने आदि के लिए निकले शुभ या अशुभ तैजस में से अन्यत्र गमन-हेतु निकला हुआ दूसरा तैजस, तैजस-तैजस शरीर है।

१४.तैजस-कार्मण—मुनिराज के शरीर से निकले हुए तैजस शरीर के साथवाला कार्मण, तैजस-कार्मण शरीर है।

१५.कार्मण-कार्मण—मुनिराज के शरीर से निकले हुए मूल आहारक या तैजस शरीर में से अन्य आहारक या तैजस शरीर निकलने पर उसके साथ वाला कार्मण शरीर, कार्मण-कार्मण शरीर कहलाता है।

इसप्रकार औदारिक-औदारिक आदि १५ शरीरों का स्वरूप, प्रयोजन या कार्य अति-संक्षेप में आगरा-निवासी पाण्डे हेमराजजी की कर्मकाण्ड टीका में से यहाँ दिया है। विस्तार से जानने के इच्छुक धवलादि ग्रंथों का स्वाध्याय करें।

प्रश्न ५२ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं—

१.शरीर संबंधी आहार-वर्गणा, तैजस-वर्गणा, कार्मण-वर्गणा आदि जड़ पौद्‌गलिक होने पर भी अपनी तत्कालीन योग्यता तथा अनन्त सामर्थ्य-संपन्नता के कारण इतना सुव्यवस्थित कार्य कर लेती हैं; तब फिर ज्ञानवान जीव अपना कार्य सुव्यवस्थित क्यों नहीं कर पाएगा? ''जड़ चेतन की सब परिणति प्रभु, अपने-अपने में होती है'' अथवा ''होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम''—यह समझ में आ जाने पर कर्तृत्व आदि रूप विपरीत मान्यताएँ नष्ट होकर जीवन अकर्तृत्व/सहज कर्तृत्व/ज्ञातृत्वमय

निराकुल हो जाता है।

२.शरीर संबंधी सभी प्रकृतिआँ, पुद्‌गल विपाकी हैं। इनका वास्तव में जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय में से किसी के भी साथ कुछ भी संबंध नहीं है—यह समझ में आ जाने पर उनकी प्रत्येक परिस्थिति को सहज स्वीकार कर, उनसे सतत भेद-विज्ञान करते रहने का भाव जागृत होता है।

३.इससे केवलज्ञान की विशदता भी समझ में आती है। जिससे गृहीत मिथ्यात्व तो नष्ट होता ही है, साथ ही उन जैसे अपने स्वभाव को पहिचानकर इसमें लीनता के बल पर अगृहीत मिथ्यात्व भी नष्ट होकर जीवन सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न सुख-शांतिमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ५३ : २८वीं गाथा के आधार से शरीर के अंगोपांग लिखिए?

उत्तर : उन्हें बताने वाली वह गाथा इसप्रकार है—

णलया बाहू य तहा, णियंबपुट्ठी उरो य सीसो य।
अट्ठेव दु अंगाइं, देहे सेसा उवंगाइं।।२८।।
दो पग दोनों हाथ हृदयअरु पीठ नितम्ब शीश जानो।
अंग आठ हैं मानव तन में शेष सभी उपांग मानो।।२८।।

शब्दश: अर्थ : **णलया**=दो पैर, **बाहू**=दो हाथ, **य**=और, **तहा**=उसीप्रकार, **णियंब**=नितम्ब/कमर के पीछे का भाग, **पुट्ठी**=पीठ, **उरो**=हृदय, **य**=और, **सीसो**=शिर, **य**=और, **अट्ठ+एव**=आठ ही, **दु**=वास्तव में, **अंगाइं**=अंग, **देहे**=देह/शरीर में, **सेसा**=शेष, **उवंगाइं**=उपांग ।।२८ ।।

अन्वय : णलया य बाहू तहा णियंब य पुट्ठी य उरो दु सीसो देहे अट्ठ एव अंगाइं सेसा उवंगाइं।

सरलार्थ : दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पीठ, हृदय और शिर—ये आठ अंग, शरीर में हैं; शेष उपांग हैं।

स्पष्टीकरण : शरीर में दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पीठ, हृदय और शिर—ये आठ अंग हैं; शेष अंगुली, नाक, कान, आँख आदि उपांग कहलाते हैं। आठ अंगों से सहित शरीर ही परिपूर्ण शरीर है। अष्टांग-सम्पन्न प्रतिमा ही प्रतिष्ठा-योग्य होती है। अष्टांग-सम्पन्न व्यक्ति ही व्यवस्थित रूप में, अहिंसक पद्धति से अपने शरीर की शुद्धि आदि करने

में सक्षम होने से पूर्णांगी पुरुष ही भगवान की प्रतिमा का प्रक्षाल आदि कार्य करने का, मुनिराजों को आहार आदि देने का अधिकारी है।

प्रश्न ५४ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इस प्रकरण को समझने से होनेवाले कुछ लाभ निम्नलिखित हैं-

१.आठों अंगों से सहित जिन-बिम्ब ही पूजनीय हैं—यह समझ में आ जाने पर खंडित जिन-बिम्बों तथा कलेण्डर में बने फोटो आदि को नमस्कार करने, पूजने आदि के भावरूप गृहीत मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है।

२.यह प्रकरण समझ में आ जाने पर जिन-बिम्ब के प्रक्षाल आदि या मुनिराज को आहार-दान देने आदि के प्रसंग पर अंग-उपांगों को लेकर चलने वाले पक्षपात, विसंवाद समाप्त होकर सामाजिक, धार्मिक वातावरण तनाव-मुक्त, शांत हो जाता है।

३.भगवान की मूर्ति अष्टांगमय समचतुरस्र-संस्थान-संपन्न, शांत, वीत-रागता-दर्शक होती है—यह समझ में आ जाने पर भगवान की अन्य अतदाकार (लवंग, चावल आदि) पदार्थों में स्थापना कर उन्हें पूजने, नमस्कार करने के भावमय गृहीत मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है।

४.शरीर के अंगोपांगों की संरचना, अंगोपांग नामक नामकर्म की पुद्गल-विपाकी कर्म-प्रकृति का कार्य है। इससे हमारे परिणामों का कुछ भी संबंध नहीं है।—यह समझ में आ जाने पर प्राप्त अंगोपांगों को देखकर दीनता-हीनता या घमंड का भाव नष्ट हो जाता है।

५.इसी आधार पर इनके परिवर्तन के भाव से होनेवाले अन्याय, अनीति, असदाचार, अभक्ष्य-भक्षण आदि पापों से बचकर, प्राप्त अंगोपांगों को सहज स्वीकारकर, उनके सुधार में अपना समय, शक्ति, धन, उपयोग आदि न लगाकर उनके प्रति सतत सहज भेद-विज्ञान जागृत रखने का परिणाम प्रगट होता है; जिससे जीवन सहज शुद्ध, सात्त्विक, सदाचारी, समता-भावमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ५५ : २९ से ३२ पर्यंत ४ गाथाओं के आधार से संहननानुसार ऊर्ध्व-अधो उत्पत्ति-क्रम को स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर : वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

सेवट्टेण य गम्मइ, आदीदो चदुसु कप्पजुगलोत्ति।
तत्तो दुजुगल-जुगले, खीलिय-णारायणद्धोत्ति।।२९।।
णव-गेविज्जाणुद्दिस-णुत्तरवासीसु जांति ते णियमा।
तिदुगेगे संघडणे, णारायण-मादिगे कमसो।।३०।।
सण्णी छस्संहडणो, वज्जदि मेघं तदो परं चापि।
सेवट्टादी रहिदो, पण पण चदुरेग-संहडणो।।३१।।
अंतिम-तिय-संहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमि-महिलाणं।
आदिम-तिग-संहडणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।।३२।।

छहों संहनन से जा सकते, चौथे कल्प-युगल पर्यंत।
कीलक आदि पाँच से जाते, छठवें कल्प-युगल पर्यंत।।
चार संहननवाले जाते, अष्टम कल्प-युगल पर्यंत।
नाराचादि तीन से जाते, नौवें ग्रैवेयक पर्यंत।।
दो से जाते नौ अनुदिश तक, एक अनुत्तर तक जाते।
इससे ही सिद्धालय जाते शाश्वत शिव सुख को पाते।।२९-३०।।
छहों संहननवाले संज्ञी, जा सकते हैं तृतीय नरक।
कीलक आदि पाँचों से, जा सकते हैं पाँचवें नरक।।
चार संहननवाले छठवें, तक जा सकते, सप्तम में।
वज्रवृषभनाराचसंहनन, वाले ही जा सकते हैं।।३१।।
अंतिम तीन संहनन होते, कर्मभूमि महिलाओं के।
वज्रादि तीनों न होते, कहें जिनेन्द्र सुनो सब ये।।३२।।

शब्दश: अर्थ : **सेवट्टेण**=सृपाटिका/असंप्राप्ता-सृपाटिका संहनन से, **य**=और, **गम्मइ**=जाता है, **आदीदो**=आदि से/प्रारंभ से, **चदुसु**= चौथे, **कप्पजुगलो**=कल्प-युगल पर्यंत, **त्ति**=इसप्रकार, **तत्तो**=उससे आगे, **दुजुगलजुगले**=दो युगल-युगल में/दो-दो युगल में, **खीलिय**= कीलित, **णारायणद्धो**=नाराचार्ध/अर्धनाराच, **त्ति**=इसप्रकार।।२९।।

णव-गेविज्ज=नवग्रैवेयिक, **अणुद्दिस**=नव अनुदिश, **णुत्तर-वासीसु**=अनुत्तर-वासिओं में, **जांति**=जाते हैं, **ते**=वे, **णियमा**= नियम से, **ति+दुग+एगे**=तीन-दो-एक, **संघडणे**=संहनन से, **णारायणं+आदिगे**=नाराच आदि से, **कमसो**=क्रमश:।।३०।।

सण्णी=संज्ञी, **छस्संहडणो**=छह संहननवाला, **वज्जदि**=जाता

है, **मेघं**=मेघा को/बालुका नामक तीसरी नरक पृथ्वी को, **तदो**=उससे, **परं**=आगे, **च+अपि**=और भी, **सेवट्टादि**=सृपाटिका आदि से, **रहिदो**=रहित, **पण**=पाँचवीं को, **पण-चदुरेग-संहडणो**=पाँच-चार-एक संहनन वाला।।३१।।

अंतिम-तिय=अंतिम तीन, **संहडणस्स**=संहनन का, **उदओ**=उदय, **पुण**=फिर, **कम्मभूमि-महिलाणं**=कर्मभूमि की महिलाओं के, **आदिम**=प्रारंभ के, **तिग**=तीन, **संहडणं**=संहनन, **णत्थि**=नहीं हैं, **त्ति**=ऐसा, **जिणेहिं**=जिनेन्द्र-भगवान द्वारा, **णिद्दिट्ठं**=कहा गया है।।३२।।

अन्वय : सेवट्टेण आदीदो चदुसु कप्पजुगलोत्ति गम्मइ तत्तो खीलिय दुजुगल अद्धोणारायणो दुजुगले त्ति।

कमसो णारायणं आदिगे ति संघडणे णव-गेविज्ज दुग संघडणे अणुद्दिस एग संघडणे अणुत्तरवासीसु ते णियमा जांति।

छस्संहडणो सण्णी मेघं वज्जदि तदो परं सेवट्टादी रहिदो पण संहडणो पण चदु: एग संहडणो चापि।

पुण कम्मभूमि-महिलाणं अंतिम-तिय संहडणस्स उदओ आदिम-तिग संहडणं णत्थि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।

सरलार्थ : असंप्राप्ता-सृपाटिका संहननवाला प्रारंभ से/भवनवासी से चार कल्प-युगल/आठवें कापिष्ठ स्वर्ग पर्यंत जन्म ले सकता है। उससे आगे दो युगल/बारहवें सहस्रार स्वर्ग पर्यंत कीलित संहननवाला और उससे भी आगे दो युगल/सोलहवें अच्युत स्वर्ग पर्यंत अर्धनाराच संहननवाला जन्म ले सकता है।

उससे आगे नव ग्रैवेयिक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तरों में क्रमश: नाराच आदि तीन, दो और एक संहननवाले ही नियम से जन्म ले सकते हैं।

छहों संहननों में से किसी भी संहननवाला संज्ञी जीव, मेघा नामक तीसरी नरक पृथ्वी पर्यंत जन्म ले सकता है। इससे आगे सृपाटिका संहनन से रहित/पाँच संहननवाला जीव, पाँचवीं नरक पृथ्वी पर्यंत; चार संहननवाला, छठवें नरक पर्यंत और एक संहननवाला, सातवीं नरक पृथ्वी पर्यंत जन्म ले सकता है।

कर्मभूमि-महिलाओं के अंतिम तीन संहनन का उदय होता है, प्रारम्भिक तीन संहननों का उनके उदय नहीं होता है—ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

स्पष्टीकरण : शरीर की अस्थि/हड्डी आदि के विशिष्ट बंधन को संहनन कहते हैं। इसके छह भेद हैं—वज्रवृषभनाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्धनाराच संहनन, कीलक/कीलित संहनन, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन।

संहनन, मनुष्य और त्रस तिर्यंचों के शरीर में ही होते हैं। एकेंद्रिय तिर्यंच, देव और नारकिओं के शरीर, हड्डी आदि सात धातुओं से रहित होने के कारण, उनके शरीर में संहनन नहीं होते हैं।

मनुष्य तथा त्रस तिर्यंचों में से किसके कौन सा संहनन होता है?—यह बताते हुए कर्म प्रकृति ग्रंथ में लिखा है कि—

वियल-चउक्के छट्ठं, पढमं तु असंखआउ-जीवेसु।
चउत्थे पंचम छट्ठे, कमसो विय छत्तिगेक्कसंहडणो।।८८।।

विकलचतुष्क/दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, असैनी पंचेंद्रिय तिर्यंचों के छठवाँ असंप्राप्ता-सृपाटिका संहनन होता है। असंख्यात वर्ष की आयुवाले भोगभूमिआँ मनुष्य-तिर्यंचों के पहला वज्रवृषभनाराच संहनन होता है। (अवसर्पिणी के) चौथे काल में छहों संहनन, पंचम-काल में अंतिम तीन संहनन तथा छठवें काल में अंतिम असंप्राप्तासृपाटिका संहननवाले जीव होते हैं।

किस संहनन-धारक मनुष्य-तिर्यंच ऊपर/देवगति तथा नीचे/नरकगति में कहाँ पर्यंत उत्पन्न हो सकता है—यह जानने के पूर्व देवगति तथा नरकगति के भेदों के नाम जान लेना अत्यावश्यक है; अत: यहाँ सर्व-प्रथम उन्हें ही लिखते हैं—

देव चार भेदों में विभक्त हैं—भवनवासी, वानव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक। वैमानिक के भी दो भेद हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। कल्पोपपन्न के स्वर्ग विमानों के रूप में सोलह भेद हैं तथा कल्पातीत के ग्रैवेयिक आदि तीन भेद हैं।

नरक भी भूमिओं की अपेक्षा सात पृथ्विओं में विभक्त हैं।

इन सभी के नाम इसप्रकार हैं—

देवगति नाम		
पाँच अनुत्तर नव अनुदिश – नव ग्रैवेयिक –	ये सभी इसी क्रम से क्रमश: ऊपर-ऊपर विद्यमान हैं। पाँच अनुत्तर विमानों के बाद सिद्ध-शिला है। जिसके ऊपर लोकाग्र में सिद्ध भगवान विराजमान हैं।	
आरण-अच्युत	आठवाँ कल्पयुगल	पंद्रहवाँ-सोलहवाँ स्वर्ग
आनत-प्राणत	सातवाँ कल्पयुगल	तेरहवाँ-चौदहवाँ स्वर्ग
शतार-सहस्रार	छठवाँ कल्पयुगल	ग्यारहवाँ-बारहवाँ स्वर्ग
शुक्र-महाशुक्र	पाँचवाँ कल्पयुगल	नवमाँ-दशवाँ स्वर्ग
लांतव-कापिष्ठ	चौथा कल्पयुगल	सातवाँ-आठवाँ स्वर्ग
ब्रम्ह-ब्रम्होत्तर	तीसरा कल्पयुगल	पाँचवाँ-छठवाँ स्वर्ग
सानत्कुमार-माहेन्द्र	दूसरा कल्पयुगल	तीसरा-चौथा स्वर्ग
सौधर्म-एशान	पहला कल्पयुगल	पहला-दूसरा स्वर्ग
ज्योतिष्क वानव्यंतर भवनवासी	भवनत्रिक	

नरकगति नाम		
संख्या	**यौगिक नाम**	**रौढ़िक नाम**
प्रथम पृथ्वी	रत्न प्रभा	घर्मा
द्वितीय पृथ्वी	शर्करा प्रभा	वंशा
तृतीय पृथ्वी	बालुका प्रभा	मेघा
चतुर्थ पृथ्वी	पंक प्रभा	अंजना
पंचम पृथ्वी	धूम प्रभा	अरिष्टा
षष्ठम पृथ्वी	तमो प्रभा	मघवी
सप्तम पृथ्वी	महातमो प्रभा	माघवी

संहननानुसार उत्पत्ति-क्रम—असंप्राप्ता-सृपाटिका संहननवाला संज्ञी जीव मरकर अधोगति/नरक में घर्मा नामक पहली रत्नप्रभा पृथ्वी से मेघा नामक तीसरी बालुका प्रभा पृथ्वी पर्यंत तथा ऊर्ध्वगति/देव में भवनवासी से लेकर कापिष्ठ नामक आठवें स्वर्ग/चौथे कल्पयुगल पर्यंत जन्म ले सकता है। कीलक संहननवाला मरकर नीचे पहली से अरिष्टा नामक पाँचवी धूमप्रभा पृथ्वी पर्यंत तथा ऊपर भवनवासी से

लेकर बारहवें सहस्रार नामक छठवें कल्पयुगल पर्यंत जन्म ले सकता है।

अर्ध-नाराच संहननवाला नीचे पहली से मघवी नामक छठवीं तमोप्रभा पृथ्वी पर्यंत तथा ऊपर भवनवासी से सोलहवें अच्युत नामक आठवें कल्पयुगल पर्यंत जन्म ले सकता है। नाराच संहननवाला नीचे पहली से मघवी नामक छठवीं तमोप्रभा पृथ्वी पर्यंत तथा ऊपर भवनवासी से नौ ग्रैवेयिक पर्यंत जन्म ले सकता है।

वज्रनाराच संहननवाला नीचे पहली से मघवी नामक छठवीं तमोप्रभा पृथ्वी पर्यंत तथा ऊपर भवनवासी से नौ अनुदिश पर्यंत जन्म ले सकता है। वज्रवृषभनाराच संहननवाला नीचे पहली से माघवी नामक सातवीं महातमोप्रभा पृथ्वी पर्यंत तथा ऊपर भवनवासी से पाँच अनुत्तर पर्यंत जन्म ले सकता है।

जन्म-मरणादि सभी विकारों का अभाव कर सिद्ध दशा भी मात्र इस वज्रवृषभनाराच संहननवाले ही प्राप्त करते हैं।

कर्मभूमि-महिलाओं के अंतिम तीन संहनन ही होते हैं, प्रारम्भिक तीन संहनन नहीं होते हैं; वे मरकर नीचे मात्र रत्नप्रभा नामक पहली से मघवी नामक छठवीं तमोप्रभा पृथ्वी पर्यंत तथा ऊपर भवनवासी से सोलहवें अच्युत नामक आठवें कल्पयुगल पर्यंत ही जन्म ले सकती हैं—ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

इसे सारणी द्वारा इसप्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

२९ से ३२वीं पर्यंत ४ गाथाओं के आधार से
ऊर्ध्व-अधो उत्पत्ति-क्रम

क्रम संहनन-नाम	ऊर्ध्व/देवगति	अधो/नरकगति
१. वज्रवृषभनाराच	भवनवासी से अनुत्तर पर्यंत	पहली से सातवीं पर्यंत
२. वज्रनाराच	'' नौ-अनुदिश पर्यंत	पहली से छठवी पर्यंत
३. नाराच	'' नौ-ग्रैवेयिक पर्यंत	पहली से छठवी पर्यंत
४. अर्धनाराच	'' अच्युत/सोलहवें स्वर्ग पर्यंत	पहली से छठवी पर्यंत
५. कीलक	'' सहस्रार/बारहवें स्वर्ग पर्यंत	पहली से पाँचवी पर्यंत
६. असंप्राप्तासृपाटिका	'' कापिष्ठ/आठवें स्वर्ग पर्यंत	पहली से तीसरी पर्यंत

प्रश्न ५६ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होने वाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं–
१.संहनन नामकर्म, पुद्गल-विपाकी प्रकृति होने से इसके उदय का संबंध पौद्गलिक शरीर के साथ है; आत्मिक-बल के साथ नहीं है—यह समझ में आ जाने पर प्राप्त शारीरिक-बल को समता पूर्वक स्वीकार करने का भाव जागृत होता है; घमण्ड तथा दीनता-हीनता रूप विकृत-भाव नष्ट हो जाते हैं।
२.शारीरिक-बल कर्मोदय-जन्य होने से उसे वास्तव में अन्य किन्हीं बाह्य साधनों से बड़ाया नहीं जा सकता है—यह समझ में आ जाने पर उसे बड़ाने के लिए किए जाने वाले अन्याय-अनीति, अभक्ष्य-भक्षण आदि रूप असदाचारी वृत्तिओं तथा अन्यान्य निरर्थक प्रयासों से बचकर अपना जीवन शुद्ध सात्त्विक, सदाचारमय हो जाता है।
३.शारीरिक शक्ति पूर्णतया जड़ होने के कारण उसका उपयोग कैसे करना––यह विवेक हमें रखना होगा। वज्रवृषभनाराच संहनन रूप शारीरिक शक्ति से सातवाँ नरक, सर्वार्थसिद्धि, सिद्धपद—कुछ भी प्राप्त किया जा सकता है—यह समझ में आ जाने पर इस शक्ति का सदुपयोग कर आत्मोन्नति करने की दिशा में अपना पुरुषार्थ जागृत होता है।
४.वास्तव में आत्मोन्नति-हेतु हमारे पास शक्ति की कमी नहीं है; वरन् आत्म-रुचि का अभाव है—यह समझ में आ जाने पर वस्तु-स्वरूप के यथार्थ ज्ञान के बल पर आत्म-रुचि जागृत कर, अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ पूर्वक हम अपना जीवन सुखमय बना सकते हैं।
५.मोक्ष-दशा प्राप्त करनेवाले का शरीर नियम से वज्रवृषभनाराच संहननवाला ही होता है। कर्मभूमि-महिलाओं के इस संहनन का अभाव होने से वे इस दशा से मोक्ष-दशा प्राप्त नहीं कर सकतीं हैं—यह समझ में आ जाने पर श्वेतांबर-मत-मान्य 'स्त्री मुक्ति' का निराकरण हो जाने से देव, शास्त्र, गुरु का यथार्थ निर्णय कर हम गृहीत मिथ्यात्व से बच जाते हैं तथा अगृहीत मिथ्यात्व को भी नष्ट करने के लिए अपने ज्ञानानंद-स्वभावी भगवान आत्मा में अपनत्व स्थापित करने की दिशा में पुरुषार्थ करते हैं; जिससे जीवन सम्यक् रत्नत्रय-संपन्न हो जाता है।
६. इस समय पुरुषों और महिलाओं के शरीर के संहनन, समान हैं।

दोनों का बल, समान है; परंतु लौकिक आजीविका, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि क्षेत्रों में समानता का भाव; अपने ऊपर दुगुनी जिम्मेदारी लेने तथा पुरुषों की जिम्मेदारी कम कर देने से उन्हें स्वेच्छाचारी/उच्छृंखल बनने का अवसर देनेवाला होने से वास्तव में यह आत्म-घाती चिंतन है; तथा धार्मिक क्षेत्र में समानता का भाव वर्तमान तथा आगामी—सभी समयों में अपना तथा अन्य का जीवन भी सुखमय बनाने में सक्षम है—यह समझ में आ जाने पर यदि महिलाएं धार्मिक-आध्यात्मिक क्षेत्र में अग्रसर रहने का प्रयास करती हैं तो उनके व्यक्तित्व का तो सर्वांगीण विकास होता ही है; साथ ही बच्चे तथा पुरुष भी उनसे सुसंस्कारित होकर अपना जीवन सुख-शांतिमय बना लेते हैं। महिलाओं की गरिमा भी स्वत: बड़ जाती है।

इसप्रकार यह प्रकरण अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में सीमित हो अपने व्यक्तित्व का वास्तविक विकास करने की दिशा में गंभीरता पूर्वक पुन: विचार करने को हमें प्रेरित करता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ५७ : गाथा ३३ के आधार से अग्नि, आतप और उद्योत का स्वरूप स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उसे बताने वाली वह गाथा इसप्रकार है—

मूलुण्हपहा अग्गी, आदावो होदि उण्हसहियपहा।
आइच्चे तेरिच्छे, उण्हूणपहा हु उज्जोओ।।३३।।
मूल प्रभा हैं उष्ण आग के, उष्ण प्रभा होती आतप।
सूर्य विमान तिर्यंचों के ही, दोनों उष्ण रहित उद्योत।।३३।।

शब्दश: अर्थ : **मूल+उण्हपहा**=मूल और प्रभा उष्ण, **अग्गी**=अग्नि, **आदावो**=आतप, **होदि**=होता है, **उण्हसहियपहा**=उष्णता से सहित प्रभा, **आइच्चे**=सूर्य के विमान में रहनेवाले, **तेरिच्छे**=तिर्यंच में, **उण्ह+ऊणपहा**=उष्णता से रहित प्रभा, **हु**=वास्तव में, **उज्जोओ**= उद्योत ।।३३।।

अन्वय : अग्गी मूल पहा उण्ह होदि आइच्चे तेरिच्छे आदावो पहा उण्ह-सहिय होदि हु उज्जोओ उण्ह ऊण पहा।

सरलार्थ : जिसके मूल और प्रभा दोनों उष्ण होते हैं, वह अग्नि है।

जिसकी केवल प्रभा ही उष्ण हो, वह आतप है; यह सूर्य के विमान में उत्पन्न हुए बादर पर्याप्त पृथ्वी-कायिक जीवों के शरीर हैं। जिसकी प्रभा भी उष्णता-रहित हो, वह उद्योत है।

स्पष्टीकरण : अग्नि के मूल और प्रभा—दोनों ही उष्ण/गर्म हैं। आतप प्रकृति के उदय में बननेवाला आतप शरीर, मूल में ठंडा तथा प्रभा में गर्म होता है। सूर्य का विमान अर्थात् सूर्य नामक ज्योतिष्क देव का निवास-स्थान, आतप नामकर्म के उदय से सहित बादर पर्याप्त पृथ्वी-कायिक तिर्यंच जीवों का शरीर होने से वह मूल में ठंडा है; परन्तु उसकी प्रभा गर्म है।

मूल तथा प्रभा दोनों ही उष्णता से रहित/शीतल होना, उद्योत है। चंद्रमा का विमान अर्थात् चंद्रमा नामक ज्योतिष्क देव का निवास-स्थान, उद्योत नामकर्म के उदय से सहित बादर पर्याप्त पृथ्वी-कायिक तिर्यंच जीवों का शरीर होने से वह मूल और प्रभा दोनों में ही शीतल है।

जुगनू आदि का प्रकाश भी ऐसा ही समझना; परन्तु वह पृथ्वी-कायिक का शरीर नहीं है।

इसप्रकार अग्नि, आतप और उद्योत का लक्षण इस गाथा में बताया गया है।

प्रश्न ५८ : इन तीनों के लक्षण समझने से होनेवाले लाभ लिखिए?

उत्तर : इन्हें समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.इन पदार्थों का लक्षण समझ लेने पर तत्संबंधी सभी भ्रान्तिआँ नष्ट हो जाती हैं। जैसे—यहाँ गर्मी में सूर्य की किरणों की उष्णता देखकर किसी को ऐसा लगने लगता है कि सूर्य के विमान में तो और भी अधिक गर्मी होगी; तब फिर वे देव वहाँ कैसे रहते होंगे ? परन्तु इस गाथा से यह समझ में आता है कि वह विमान मूल में तो ठंडा ही है; अत: उसमें रहने वाले देवों को गर्मी का कष्ट नहीं है।

२.इसी आधार पर कोई अग्नि को भी मूल में ठंडा ही मान ले तो उसका भी भ्रम इस प्रकरण को समझने से नष्ट हो जाता है।

३.शरीर की ये सभी विशेषताएं कर्मोदय-जन्य हैं, जीव-कृत नहीं हैं—यह समझ में आ जाने पर उनसे सतत भेद-ज्ञान करते हुए अमूर्तिक आत्मा में लीन रहने का पुरुषार्थ जागृत होता है।

४.इसी आधार पर जुगनू, हीरा आदि के प्रकाशमान शरीर को देखकर उनके प्रति आकर्षित नहीं होने का भाव जागृत होता है।

५.इसी आधार पर पौद्गलिक परमाणुओं की विचित्र कार्य-क्षमता ज्ञात हो जाने से सहज अकर्तृत्व/ज्ञातृत्व भाव जागृत होता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ५९ : पिंड और अपिंड प्रकृतिआँ क्या हैं ?

उत्तर : जिनके अन्यान्य भेद होते हैं, उन्हें पिण्ड-प्रकृतिआँ कहते हैं। जैसे—गति, जाति आदि। गति के ४ भेद हैं, जाति के ५ भेद हैं इत्यादि।

जिन प्रकृतिओं के अन्यान्य भेद नहीं होते हैं, उन्हें अपिण्ड प्रकृतिआँ कहते हैं। जैसे—अगुरुलघु, उपघात, परघात आदि।

प्रश्न ६० : ३४ से ३८ पर्यंत पाँच गाथाओं के आधार से भेदाभेद विवक्षा में बंध, उदय, सत्त्व-योग्य उत्तर-प्रकृतिओं की संख्या लिखिए?

उत्तर : उन्हें बताने वाली गाथाएं इसप्रकार हैं—

देहे अविणाभावी, बंधण-संघाद इदि अबंधुदया।
वण्ण - चउक्केऽभिण्णे, गहिदे चत्तारि बंधुदये।।३४।।
पंच णव दोण्णि छब्बीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी।
दोण्णि य पंच य भणिया, एदाओ बंध-पयडीओ।।३५।।
पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण सत्तट्ठी।
दोण्णि य पंच य भणिया, एदाओ उदय-पयडीओ।।३६।।
भेदे छा-दाल-सयं, इदरे बंधे हवंति वीस-सयं।
भेदे सव्वे उदये, वा-वीस-सयं अभेदम्हि।।३७।।
पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण ते-णउदी।
दोण्णि य पंच य भणिया, एदाओ सत्त-पयडीओ।।३८।।

तन की अविनाभावी होने से बंधन संघात नहीं।
गिनते बंध उदय में इससे दश हो जातीं कमीं यहीं।।
अभेद में गिनते हैं चार ही, वर्णादि चारों की बीस।
बंध उदय में सोलह कम हो, यों कम हो जातीं छब्बीस।।३४।।
पाँच और नौ दो छब्बीस रु, चार और षड़षठ क्रम से।
दो अरु पाँच अभेद अपेक्षा बंध-योग्य प्रकृतिआँ ये।।३५।।
पाँच और नौ दो अट्ठाईस, चार और षड़षठ क्रम से।

दो अरु पाँच अभेद अपेक्षा, उदय-योग्य प्रकृतिआँ ये।।३६।।
भेदाभेद अपेक्षा क्रमशः बंध-योग्य इकशत छ्यालीस।
इक शत बीस, उदय आने के योग्य सभी, इक शत बाईस।।३७।।
पाँच और नौ दो अट्ठाईस, क्रमशः चार रु तेरानबै।
दो अरु पाँच कहीं हैं सब ही, सत्त्व-योग्य प्रकृतिआँ ये।।३८।।

शब्दशः अर्थ : **देहे**=शरीर के साथ, **अविणाभावी**=अविनाभावी होने से, **बंधणसंघाद**=बंधन और संघात, **इदि**=ये, **अबंधुदया**=अबंध और अनुदय, **वण्णचउक्के**=वर्ण-चतुष्क को, **अभिण्णे**=अभिन्न/अभेद से, **गहिदे**=ग्रहण करने पर, **चत्तारि**=चार, **बंधुदये**=बंध और उदय में।।३४।।

पंच=पाँच, **णव**=नौ, **दोण्णि**=दो, **छब्बीसं**=छब्बीस, **अवि**=भी, **य**=और, **चउरो**=चार, **कमेण**=क्रम से, **सत्तट्ठी**=षड़षठ, **दोण्णि**=दो, **य**=और, **पंच**=पाँच, **य**=और, **भणिया**=कही हैं, **एदाओ**=ये, **बंधपयडीओ**=बंध-प्रकृतिआँ।।३५।।

पंच=पाँच, **णव**=नौ, **दोण्णि**=दो, **अट्ठाबीसं**=अट्ठाईस, **चउरो**=चार, **कमेण**=क्रम से, **सत्तट्ठी**=षड़षठ, **दोण्णि**=दो, **य**=और, **पंच**=पाँच, **य**=और, **भणिया**=कहीं हैं, **एदाओ**=ये, **उदयपयडीओ**=उदय-प्रकृतिआँ।।३६।।

भेदे=भेद में, **छा+दाल+सयं**=६+४०+१००=१४६, **इदरे**=इससे विपरीत/अभेद में, **बंधे**=बंध में, **हवंति**=होती हैं, **वीस+ सयं**=२०+१००=१२०, **भेदे**=भेद में, **सव्वे**=सभी, **उदये**=उदय में, **वा+वीस+सयं**=दो+बीस+सौ=१२२, **अभेदम्हि**=अभेद में।।३७।।

पंच=पाँच, **णव**=नौ, **दोण्णि**=दो, **अट्ठा+वीसं**=८+२०=अट्ठाईस, **चउरो**=चार, **कमेण**=क्रम से, **ते+णउदी**=३+९०=तेरानबै, **दोण्णि**=दो, **य**=और, **पंच**=पाँच, **य**=और, **भणिया**=कहीं हैं, **एदाओ**=ये, **सत्तपयडीओ**=सत्त्व-प्रकृतिआँ।।३८।।

अन्वय : बंधणसंघाद देहे अविणाभावी इदि अबंध अणुदया अभिण्णे वण्णचउक्के गहिदे बंध-उदये चत्तारि।

कमेण पंच णव दोण्णि य छब्बीसं अवि सत्तट्ठी य दोण्णि य पंच एदाओ बंध-पयडीओ भणिया।

कमेण पंच णव दोण्णि अट्ठाबीसं चउरो सत्तट्ठी य दोण्णि य पंच एदाओ उदय-पयडीओ भणिया।

बंधे भेदे सयं दाल छा हवंति इदरे सयवीसं हवंति उदये भेदे सव्वे अभेदम्हि सयंवीस वा।

कमेण पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो तेणउदी य दोण्णि य पंच एदाओ सत्तपयडीओ भणिया।

सरलार्थ : शरीर के साथ अविनाभावी होने के कारण बंधन और संघात को बंध और उदय में ग्रहण नहीं करते हैं तथा वर्ण-चतुष्क की बीस प्रकृतिओं को अभिन्नरूप में ग्रहण करने पर बंध और उदय में मात्र चार ही गिनते हैं।

पाँच, नौ, दो, छब्बीस, चार, षड़षठ, दो और पाँच—ये क्रमशः बंध-योग्य प्रकृतिआँ कही हैं।

पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, षड़षठ, दो और पाँच—ये क्रमशः उदय-योग्य प्रकृतिआँ हैं।

बंध में भेद की अपेक्षा एक सौ छ्यालीस और अभेद की अपेक्षा एक सौ बीस हैं। उदय में भेद की अपेक्षा सभी और अभेद की अपेक्षा एक सौ बाईस हैं।

पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तेरानबै, दो और पाँच—ये क्रमशः सत्त्व-योग्य प्रकृतिआँ कही हैं।

स्पष्टीकरण : औदारिक शरीर के साथ औदारिक बंधन और औदारिक संघात ही होगा इत्यादि रूप में शरीर, बंधन और संघात परस्पर अविनाभावी होने से बंध और उदय प्रकरण की अभेद विवक्षा में इन १५ प्रकृतिओं में से मात्र शरीर संबंधी ५ प्रकृतिआँ ही गिनी जाती हैं।

इसीप्रकार वर्ण की ५, गंध की २, रस की ५ और स्पर्श की ८—इन २० प्रकृतिओं में से अभेद विवक्षा में सामान्य मात्र चार ही गिनी जाती हैं; अतः १६ ये कम हो गईं।

इसप्रकार अभेद-विवक्षा में बंध और उदय की अपेक्षा नामकर्म की १०+१६=२६ प्रकृतिआँ कम हो जाती हैं।

मोहनीय कर्म में दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतिओं में से एक अभेद दर्शनमोहनीय ही बँधती है; अतः दो प्रकृतिआँ कम हो जाने

से बंध की अपेक्षा मोहनीय की मात्र २६ प्रकृतिआँ ही ली जाती हैं। उदय तथा सत्त्व में २८ ही हैं। इसप्रकार भेद-अभेद विवक्षा में बंध, उदय, सत्त्व-योग्य प्रकृतिआँ निम्नलिखित अनुसार हो जाती हैं—

३४ से ३८ पर्यंत ५ गाथाओं के आधार से
भेदाभेद विवक्षा-युक्त बंध-उदय-सत्त्व-योग्य-प्रकृतिआँ—

		उत्तर-प्रकृतिओं की संख्या मात्र				
क्रम	मूल कर्म प्रकृति नाम	बंध		उदय		
		भेद	अभेद	भेद	अभेद	सत्त्व
१.	ज्ञानावरण	५	५	५	५	५
२.	दर्शनावरण	९	९	९	९	९
३.	वेदनीय	२	२	२	२	२
४.	मोहनीय	२६	२६	२८	२८	२८
५.	आयुष्क	४	४	४	४	४
६.	नाम	९३	६७	९३	६७	९३
७.	गोत्र	२	२	२	२	२
८.	अंतराय	५	५	५	५	५
योग		१४६	१२०	१४८	१२२	१४८

प्रश्न ६१ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.कर्म सीमित हैं; एक सौ बीस, एक सौ अड़तालीस आदि असंख्यात लोक-प्रमाण मात्र ही हैं। उनके साथ ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा सतत अनंत सामर्थ्य-सम्पन्न विद्यमान है। यदि हम इसे अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, इसमें स्थिर होते हैं तो जीवन तो सुख-शांतिमय हो ही जाता है, कर्मों का भी अभाव हो जाता है—यह समझ में आ जाने पर इस दिशा में तीव्रता से पुरुषार्थ जागृत होता है।

२.**''पुढवीपिण्डसमाणा''** (समयसार-गाथा १६९) अर्थात् सत्ता में विद्यमान कर्म मिट्टी के ढेले के समान निष्क्रिय होते हैं—यह समझ में आ जाने पर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा उन्हें जड़-मूल से नष्ट करने की दिशा में प्रयास प्रारंभ हो जाता है।

३.आबाधा-काल पूर्ण होने के बाद कर्म, निषेक-रचना-क्रम पूर्वक उदय

में आकर खिर जाते हैं। **''पक्के फलम्हि पडिए''—**(समयसार-गाथा १६८) अर्थात् पके हुए फल के समान कर्म उदय में आकर निर्जीर्ण हो जाता है/खिर जाता है। उत्तरोत्तर हीन-हीन होते जाने से उनकी शक्ति भी हीन-हीन होती जाती है—यह समझ में आ जाने पर यदि हम कर्मों की ओर न देखकर अपने स्वभाव में जागृत रहते हैं तो जीवन सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न हो जाता है, कर्मों का भी अभाव हो जाता है। कमजोर दशा नष्ट होकर पर्याय में भी अनंत-सामर्थ्य प्रगट हो जाती है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ६२ : गाथा ३९-४० के आधार से सर्वघाति-देशघाति प्रकृतिओं को स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर : वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

केवल-णाणावरणं, दंसण-छक्कं कसाय-वारसयं।
मिच्छं च सव्वघादी, सम्मामिच्छं अबंधम्हि।।३९।।
णाणावरण-चउक्कं, ति-दंसणं सम्मगं च संजलणं।
णव णोकसाय-विग्घं, छब्बीसा देस-घादीओ।।४०।।

केवलज्ञानावरण दर्शनावरण षट्क कषाय बारा।
है मिथ्यात्व अबंध सर्वघाति सम्यग्मिथ्यात्व कहा।।३९।।
ज्ञानावरण चार त्रय दर्शन सम्यक् और संज्वलन भी।
नव नो कषाय अंतराय ये देशघातिया छब्बीस ही।।४०।।

शब्दश: अर्थ : **केवलणाणावरणं**=केवलज्ञानावरण, **दंसणछक्कं**= दर्शनावरण की छह, **कसायवारसयं**=बारह कषाय, **मिच्छं**=मिथ्यात्व, **च**=और, **सव्वघादी**=सर्वघाती, **सम्मामिच्छं**=सम्यग्मिथ्यात्व, **अबंधम्हि**=अबंध में।।३९।।

णाणावरणचउक्कं=ज्ञानावरण-चतुष्क, **तिदंसणं**=दर्शनावरण की तीन, **सम्मगं**=सम्यक्त्व, **च**=और, **संजलणं**=संज्वलन, **णव णोकसाय**=नौ नो कषाय, **विग्घं**=विघ्न/अंतराय, **छब्बीसा**=छब्बीस, **देसघादीओ**=देशघाति।।४०।।

अन्वय : केवलणाणावरणं दंसणछक्कं वारसयं कसाय च मिच्छं सव्वघादी अबंधम्हि सम्मामिच्छं।

चउक्कं णाणावरण ति दंसणं सम्मगं संजलणं णव णोकसाय च

विग्घं छब्बीसा देसघादीओ।

सरलार्थ : केवलज्ञानावरण; केवलदर्शनावरण, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, निद्रा और प्रचला—ये दर्शनषट्क; अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ—ये बारह कषायें; मिथ्यात्व और बंध-रहित, सत्त्व तथा उदय में सम्यग्मिथ्यात्व—ये २१ प्रकृतिआँ, सर्वघाति हैं।

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन:पर्यय-ज्ञानावरण—ये ज्ञानावरण-चतुष्क; चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण—ये तीन दर्शन; सम्यक्त्व-प्रकृति, क्रोध-मान-माया-लोभरूप संज्वलन कषाय; हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद रूप नौ नो कषाय; दानांतराय, लाभान्तराय, भोगांतराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तरायरूप पाँच विघ्न/अंतराय—ये २६ प्रकृतिआँ देशघाति हैं।

स्पष्टीकरण : जीव के अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त होनेवाले कर्म, घातिकर्म कहलाते हैं। ये चार हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय। इनकी क्रमश: ५, ९, २८ और ५—कुल ४७ उत्तर-प्रकृतिआँ हैं। इन ४७ प्रकृतिओं में से २१ प्रकृतिआँ, सर्वघाति तथा २६ प्रकृतिआँ, देशघाति हैं।

घाति-कर्मों का अनुभाग; लता, दारु (देवदारु), अस्थि और शैल की शक्ति के समान कार्य करता है। जिन स्पर्धकों (कर्म-परमाणुओं के समूहरूप वर्गणाओं के समूह) में ये चारों प्रकार के अनुभाग होते हैं, वे देशघाति कहलाते हैं; तथा जिन स्पर्धकों में लता जैसा अनुभाग नहीं होता है, शेष तीन प्रकार का अनुभाग होता है, वे सर्वघाति स्पर्धक कहलाते हैं। जिनमें लता जैसी अनुभाग शक्ति होती है, उनमें जीव के परिणामों का निमित्त पाकर, अपनी तत्कालीन योग्यता-वश क्षयोपशम हो जाता है। वर्तमान-कालीन सर्वघाति स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय, उन्हीं के आगामी-कालीन स्पर्धकों के सदवस्थारूप उपशम और देशघाति स्पर्धकों के उदय-युक्त कर्म की मिश्रित दशा को क्षयोपशम कहते हैं। इसमें निमित्त होनेवाले जीव के भाव, क्षायोपशमिक भाव कहलाते हैं।

जिन प्रकृतिओं में यह क्षयोपशम की स्थिति होती है, वे देशघाति प्रकृतिआँ हैं तथा लता जैसा अनुभाग नहीं होने के कारण जिन प्रकृतिओं में यह क्षयोपशम की स्थिति नहीं होती है, वे सर्वघाति प्रकृतिआँ हैं।

सर्वघाति २१ प्रकृतिओं में से सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति, जात्यंतर सर्वघाति है। अन्य सर्वघाति के समान नहीं होने से इसे जात्यंतर कहते हैं। इसके उनसे पृथक्ता के कुछ कारण निम्नलिखित हैं—

१.इस प्रकृति का बंध नहीं होता है। प्रथमोपशम-सम्यक्त्व का निमित्त पाकर दर्शनमोहनीय के विभाजन से इसका सत्त्व होता है। तत्पश्चात् तीसरे गुणस्थान में इसका उदय होता है।

२.अन्य प्रकृतिओं के समान यह सम्यक्त्व के पूर्णतया घात में सक्षम नहीं है।

३.इसमें मात्र दारु/देवदारु के समान शक्तिवाले अनंत बहुभाग के अनंतवें भाग प्रमाण स्पर्धक ही होते हैं, अन्य स्पर्धक नहीं होते हैं।

४.इसके उदय में जीव के श्रद्धा गुण की सम्यक्त्व-मिथ्यात्व रूप जात्यंतर मिश्र अवस्था होती है।

इत्यादि अनेक कारणों से यह जात्यंतर सर्वघाति प्रकृति है।

घातिकर्म की सर्वघाति-देशप्रकृतिओं को हम इस सारणी द्वारा समझ सकते हैं—

गाथा ३९-४० के आधार से सर्वघाति-देशघाति का विभाजन

क्रम	मूल कर्म	सर्वघाति प्रकृतिआँ	देशघाति प्रकृतिआँ
१.	ज्ञानावरण	केवल-ज्ञानावरण	मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय ज्ञानावरण।
२.	दर्शनावरण	केवलदर्श., स्त्यान., निद्रानि., प्रचलाप्र., निद्रा, प्रचला	चक्षु-अचक्षु-अवधि दर्शनावरण।
३.	मोहनीय	मिथ्यात्व, सम्यग्मि., अनंतानु. -अप्रत्या.-प्रत्या. संबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ।	सम्यक् प्र., संज्व.४, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद।
४.	अंतराय	×	दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तराय।
कुल ४ घाति		२१	२६

प्रश्न ६३ : इस प्रकरण को समझने से होनेवाले लाभ लिखिए?
उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—
१.घातिकर्म, जीव के अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त होने पर भी वास्तविक निमित्त तो उनकी मात्र इक्कीस सर्वघाति-प्रकृतिआँ ही हैं, देशघाति-प्रकृतिओं में क्षयोपशम की स्थिति बनने के कारण वे पूर्णतया घात में निमित्त नहीं होती हैं; अर्थात् शत्रु, अल्प संख्या में है तथा उसके समक्ष अनंत सामर्थ्य-सम्पन्न अपना ज्ञानानंद-स्वभावी भगवान आत्मा, सतत विद्यमान है—यह समझ में आ जाने पर अपने भगवान आत्मा में स्थिरता के बल पर कर्मों को नष्ट करने की दिशा में पुरुषार्थ जागृत होता है।
२.कर्मों को नष्ट करने के लिए साधन-सामग्री देशघाति-प्रकृतिओं के कुछ क्षयोपशम से प्रत्येक सैनी पंचेंद्रिय जीव को सदा प्राप्त है। प्राप्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य ही वह साधन है, जिससे आत्मा और कर्मों के मध्य भेद-ज्ञान कर, उन्हें पर मानकर, उनसे संबंध विच्छेदकर अन्तरोन्मुखी वृत्ति द्वारा आत्मानुभव प्रगट हो जाता है—यह समझ में आ जाने पर प्राप्त सामग्री का सदुपयोग करने का भाव जागृत होता है।
३.प्राप्त सामग्री कर्म के क्षयोपशम के साथ संबंधित होने के कारण उनका घटना-बड़ना कर्माधीन है, अपने अधीन नहीं है; यह समझ में आ जाने पर उन्हें घटाने-बड़ाने का भाव समाप्त हो जाता है; जिससे निरर्थक अन्याय, अनीति, अभक्ष्य-भक्षण, असदाचार-वृत्ति आदि से बचकर जीवन न्याय-नीति-सम्पन्न, सदाचारमय हो जाता है।
४.इसी समझ के बल पर घमण्ड या दीनता-हीनता का भाव नष्ट होकर प्रत्येक परिस्थिति को सहज स्वीकार कर, समता-भाव पूर्वक उसका सदुपयोग करने की दिशा में पुरुषार्थ जागृत होता है।
५.परोन्मुखी-वृत्ति नष्ट कर पूर्ण एकाग्रता पूर्वक प्राप्त ज्ञान, दर्शन, वीर्यरूप साधन से यदि त्रैकालिक ज्ञान-स्वभावी अपने भगवान आत्मा में स्थिर होते हैं, पूर्ण तन्मय होते हैं तो क्रमश: घाति-कर्मों का अभाव होकर अनंत-चतुष्टयरूप परिपूर्ण ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य प्रगट हो जाता है—यह समझ में आ जाने पर ज्ञानादि को विकसित करने के सम्यक् उपाय में ही पुरुषार्थ करने का भाव जागृत होता है।

६.अंतराय-कर्म की सभी प्रकृतिआँ, देशघाति हैं अर्थात् उनका कुछ-कुछ क्षयोपशम सतत विद्यमान है। निष्कर्ष यह है कि वास्तव में आत्म-कल्याण करने-योग्य शक्ति आदि तो हमें सदैव उपलब्ध है; हम अपनी अरुचि के कारण, अपने को नहीं पहिचानने से होनेवाली अपनी दुर्दशाओं का वास्तविक विचार नहीं कर पाने के कारण, आत्म-ज्ञान के फल-स्वरूप उपलब्ध निराकुल सुख-शान्ति/अतींद्रिय आनंद/परम-संतुष्टि की परिकल्पना भी नहीं कर पाने के कारण, आत्म-कल्याण नहीं कर पा रहे हैं—यह समझ में आ जाने पर; कर्मों पर दोषारोपण करना समाप्त कर यदि हम दोनों परिस्थितिओं पर गंभीरता पूर्वक तुलनात्मक विचार करते हैं तो अवश्यमेव आत्मरुचि जागृत होकर आत्म-लीनता की दिशा में पुरुषार्थ जागृत हो जाता है।
७.निद्रा संबंधी पाँचों ही प्रकृतिआँ, सर्व-घाति हैं; अत: निद्रा को अच्छा मानना, आत्म-घाती मान्यता है—यह समझ में आ जाने पर परिस्थिति-वश निद्रा लेते हुए भी, उसे हितकर नहीं मानकर, अपनी कमजोरी मानकर तत्त्व-निर्णय पूर्वक सतत स्व-स्वभाव में जागृत रहने की दिशा में प्रयास प्रारम्भ होता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।
प्रश्न ६४ : ४१ से ४४ पर्यंत ४ गाथाओं के आधार से भेदाभेद विवक्षा पूर्वक उदय-बंध-योग्य प्रशस्त-अप्रशस्त प्रकृतिओं को बताइए?
उत्तर : उन्हें बताने वाली वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

सादं तिण्णेवाऊ, उच्चं णर-सुर-दुगं च पंचिंदी।
देहा बंधण-संघा-दंगोवंगाइं वण्ण-चओ।।४१।।
समचउर-बज्ज-रिसहं, उवघादूणगुरु-छक्क सग्गमणं।
तसबार-सट्ठसट्ठी, बादाल-मभेददो सत्था।।४२।।
घादी-णीच-मसादं, णिरयाऊ णिरय-तिरिय-दुग-जादी।
संठाण-संहदीणं, चदु-पण-पणगं च वण्ण-चओ।।४३।।
उवघाद-मसग्गमणं, थावर-दसयं च अप्पसत्था हु।
बंधुदयं पडि भेदे, अड-णउदि सयं दु-चदु-रसीदिदरे।।४४।।
साता आयु तीन उच्च नरसुरद्विक पंचेंद्रिय जाति।
तन बंधन संघात और अंगोपांग चार वर्ण आदि।।४१।।

समचतुरस्र संहनन पहला, अगुरुलघु परघातातप।
उद्योतोच्छ्‌वास सद्‌गतियुत, त्रस आदि लो गिन बारह।।
भेद अपेक्षा अड़षठ हैं ये, अभेद में जानो ब्यालीस।
कहलाती हैं पुण्य प्रकृतिआँ, नाश किया जिन वे जगदीश।।४२।।
नीच असाता नारक आयु, नारक तिर्यग्द्विक घाति।
पाँच संहनन, संस्थान, वर्णादि चार-चार जाति।।४३।।
उपघात विहायोगमन असद्, स्थावर दश शत अण्ठानबै।
उदय बंध में भेद अभेद चौरासी ब्यासी हैं अघ ये।।४४।।

शब्दश: अर्थ : **सादं**=साता-वेदनीय, **तिण्ण+एव+आयु**=तीन ही आयुष्क, **उच्चं**=उच्चगोत्र, **णरसुरदुगं**=नरद्विक/मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानुपूर्वी तथा सुरद्विक/देवगति-देवगत्यानुपूर्वी, **च**=और, **पंचिंदी**=पंचेंद्रिय, **देहा**=(पाँच) शरीर, **बंधण**=(पाँच) बंधन, **संघाद**=(पाँच) संघात, **अंगोवंगाइं**=(तीन) अंगोपांग, **वण्णचओ**=वर्णचतुष्क।।४१।।

समचउर=समचतुरस्र संस्थान, **बज्जरिसहं**=वज्रवृषभनाराच संहनन, **उवघाद+ऊण**=उपघात से रहित, **अगुरुछक्कं**=अगुरुलघु आदि छह, **सग्गमणं**=प्रशस्त विहायोगति, **तसवार**=त्रस आदि बारह, **स+अट्ठ+सट्ठी**=सहित+आठ+साठ=अड़षठ, **वा+दाल**=दो+ चालीस=ब्यालीस, **अभेददो**=अभेद विवक्षा से, **सत्था**=प्रशस्त प्रकृतिआँ ।।४२।।

घादी=घाति-कर्म,**णीचं**=नीच-गोत्र, **असादं**=असाता-वेदनीय, **णिरय+आयु**=नरक-आयुष्क, **णिरयतिरियदुग**=नरकद्विक/नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी और तिर्यग्द्विक/तिर्यंचगति-तिर्यंच-गत्यानुपूर्वी, **जादी**=जाति, **संठाण**=संस्थान, **संहदीणं**=संहनन, **चदु**= चार, **पण**=पाँच, **पणगं**=पाँच, **च**=और, **वण्णचओ**=वर्ण चतुष्क ।।४३।।

उवघादं=उपघात, **असग्गमणं**=अप्रशस्त-विहायोगति, **थावरदसयं**=स्थावर आदि दश, **च**=और, **अप्पसत्था**=अप्रशस्त, **हु**=वास्तव में, **बंध+उदयं**=बंध-उदय के, **पडि**=प्रति, **भेदे**=भेद में, **अड+णउदी**=आठ+नब्बे=अण्ठानबै, **सयं**=सौ, **दु+चदु:+ असीदि**=(दो, चार, अस्सी) दो+अस्सी=ब्यासी तथा चार+अस्सी= चौरासी, **इदरे**=विपरीत/अभेद में।।४४।।

अन्वय : सादं तिण्ण एव आऊ उच्चं णरदुगं सुरदुगं पंचिंदी देहा बंधण संघाद अंगोवंगाइं च वण्णचओ।

समचउर बज्जरिसहं उवघाद-ऊण अगुरुछक्क सग्गमणं तस-बारस सट्ठी अट्ठ अभेददो बादालं सत्था।

घादी णीचं असादं णिरयआऊ णिरय-दुग तिरिय-दुग जादी-चदु संठाण-पण संहदीणं-पणगं च वण्णचओ।

उवघादं असग्गमणं च थावर-दसयं हु अप्पसत्था बंधं पडि भेदे णउदि अड उदयं पडिभेदे सयं इदरे असीदि-दु असीदि-चदु।

सरलार्थ : साता-वेदनीय; मनुष्य, तिर्यंच और देव—ये तीन आयुष्क; उच्च-गोत्र, मनुष्य-गति, मनुष्य-गत्यानुपूर्वी, देव-गति, देव-गत्यानुपूर्वी, पंचेंद्रिय-जाति, औदारिक आदि पाँच शरीर, पाँच बंधन, पाँच संघात, औदारिक आदि तीन अंगोपांग; वर्ण, गंध, रस, स्पर्शमय वर्ण चतुष्क; समचतुरस्र-संस्थान, वज्रवृषभनाराच-संहनन, उपघात-रहित अगुरुलघु-षट्क/अगुरुलघु, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्‌वास; प्रशस्त-विहायोगति; त्रसादि बारह/त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर—ये अड़षठ प्रकृतिआँ भेद-विवक्षा में तथा ब्यालीस प्रकृतिआँ अभेद-विवक्षा में पुण्य-प्रकृतिआँ हैं।

घाति अर्थात् ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, मोहनीय की अट्ठाईस, अंतराय की पाँच—कुल सेंतालीस; नीच-गोत्र, असाता-वेदनीय, नरक-आयुष्क, नरक-गति, नरक-गत्यानुपूर्वी, तिर्यंच-गति, तिर्यंच-गत्यानुपूर्वी; एक इंद्रिय, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रियरूप चार जाति; न्यग्रोध परिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक—ये पाँच संस्थान; वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तासृपाटिका—ये पाँच संहनन; वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, उपघात, अप्रशस्त-विहायोगति; स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु:स्वर, अनादेय, अयशस्कीर्तिरूप स्थावर दशक—ये अप्रशस्त-प्रकृतिआँ हैं। ये बंध में भेद की अपेक्षा अण्ठानबै तथा अभेद की अपेक्षा ब्यासी हैं। उदय में भेद की अपेक्षा सौ तथा अभेद की अपेक्षा चौरासी हैं।

स्पष्टीकरण : यहाँ संपूर्ण कर्म-प्रकृतिओं को प्रशस्त और अप्रशस्तरूप में विभक्त किया गया है। वर्ण-चतुष्क संबंधी २० प्रकृतिआँ (वर्ण ५, गंध २, रस ५, स्पर्श ८) दोनों रूप होने के कारण यह विभाजन कुल १६८ प्रकृतिओं का है।

शरीर, बंधन, संघात प्रशस्त-प्रकृतिआँ होने से प्रशस्त-प्रकृतिओं के अंतर्गत अभेद-विवक्षा में इनकी १० प्रकृतिआँ कम की गई हैं। वर्णादि की १६ भी इनमें मिलाकर कुल २६ प्रकृतिआँ कम हुई हैं; परन्तु अप्रशस्त-प्रकृतिओं में शरीरादि की गणना नहीं होने से, वहाँ अभेद-विवक्षा में मात्र वर्णादि की १६ ही कम होती हैं।

इसीप्रकार मोहनीय कर्म अप्रशस्त होने के कारण सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति—ये दो प्रकृतिआँ अप्रशस्त-प्रकृतिओं में ही उदय की अपेक्षा अधिक हुई हैं; अर्थात् बंध और उदय की प्रकृतिओं में भिन्नता मात्र अप्रशस्त में ही है, प्रशस्त में नहीं है।

इन सभी को हम सारणी द्वारा इसप्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

प्रशस्त-अप्रशस्त प्रकृतिओं का विभाजन

क्रम	मूलकर्म	प्रशस्त प्रकृतिआँ	अप्रशस्त प्रकृतिआँ
१.	ज्ञानावरण	X	मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय-केवल ज्ञानावरण।
२.	दर्शनावरण	X	चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवल दर्शनाव., स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, निद्रा, प्रचला।
३.	वेदनीय	सातावेदनीय	असातावेदनीय।
४.	मोहनीय	X	मिथ्यात्व, सम्यग्मि., सम्यक्त्व प्रकृति; अनंतानु., अप्रत्या., प्रत्या., संज्वलन संबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ; हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा; स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद।
५.	आयुष्क	तिर्यंच-मनुष्य-देव आयुष्क।	नरकायुष्क।
६.	नामकर्म	मनुष्यगति-गत्यानु., देवगति-गत्यानु., पंचेंद्रिय जाति, ५ शरीर, ५ बंधन, ५ संघात, ३ अंगोपांग, २० शुभ वर्णादि, समचतु. संस्थान, वज्रवृषभ. संहनन, अगुरुलघु, परघात,	नरकगति-गत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति-गत्यानुपूर्वी, एकेंद्रिय, दोइंद्रिय, तीनेंद्रिय, चारेंद्रिय; न्यग्रोध परिमंडल, कुब्जक, वामन, स्वाति, हुंडक संस्थान; वज्र-नाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक, असंप्राप्ता-सृपाटिका संहनन।

		उच्छ्., आतप, उद्योत, प्रश. विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश., निर्माण, तीर्थंकर।	२० अशुभ वर्णादि, उपघात, अप्रशस्त विहायो., स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु:स्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति।
७.	गोत्रकर्म	उच्च-गोत्र	नीच-गोत्र
८.	अंतरायकर्म	X	दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तराय।

८ कर्म	भेद विवक्षा	अभेद विवक्षा	उदय भेद	अभेद	बंध भेद	अभेद
	६८	४२	१००	८४	९८	८२

प्रश्न ६५ : आयुष्क कर्म और गति नामकर्म अविनाभावी होने पर भी तिर्यंच आयुष्क को प्रशस्त-प्रकृति में और तिर्यंच-गति, तिर्यंच-गत्यानुपूर्वी को अप्रशस्त-प्रकृति में क्यों गिना गया है ?

उत्तर : यद्यपि आयुष्क कर्म और गति नामकर्म अविनाभावी है। विवक्षित आयुष्क का उदय होते ही तत्संबंधी गति का ही उदय होता है; तथापि जिसमें संसारी जीव रहना चाहता है, उसे प्रशस्त में तथा जिसमें रहना नहीं चाहता है, उसे अप्रशस्त में रखा जाता है। यह जीव तिर्यंच भव में तो रहना चाहता है; परन्तु तिर्यंच संबंधी औदयिक भावों से भागता है, उनमें रहना नहीं चाहता है। यही कारण है कि तिर्यंच भव को स्थिर रखने में निमित्तभूत तिर्यंच आयुष्क कर्म को तो प्रशस्त में तथा तिर्यंच-गति रूप औदयिक-भावों में निमित्तभूत तिर्यंच-गति नामकर्म को अप्रशस्त-प्रकृतिओं में गिना गया है।

प्रश्न ६६ : इस प्रकरण को समझने से होने वाले लाभ लिखिए?

उत्तर : इसे समझने से होने वाले प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं–

प्रस्तुत प्रकरण आस्रव, बंध, पुण्य, पाप आदि संबंधी समस्त विपरीत मान्यताओं को नष्ट करने में पूर्णतया सक्षम है। वह इसप्रकार–

*१.*वास्तव में प्रशस्त-अप्रशस्तरूप भेद तो मात्र अघाति-कर्म में है। अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त होने वाले घाति-कर्म तो पूर्णतया पापरूप ही हैं। आत्मोन्नति का प्रारम्भ तो घाति-कर्म की हीनता से होता है; अघाति-कर्म के पाप-पुण्य रूप परिवर्तन से नहीं है। घाति-कर्म की हीनता एक-मात्र तत्त्व-निर्णय पूर्वक स्व-पर भेद-विज्ञान के बल पर आत्मानुभव से होती है—यह समझ में आ जाने

पर पुण्य का आकर्षण नष्ट हो आत्मानुभव प्रगट करने की दिशा का पुरुषार्थ प्रारम्भ होता है।

२.हमारे प्रत्येक विकारी परिणाम का निमित्त पाकर आयुष्क कर्म के विना सात कर्मों का बंध तो प्रति-समय होता ही रहता है। अपकर्ष-काल में आयुष्क कर्म का भी बंध होने पर आठों ही कर्मों का बंध चल रहा है। शुभ या अशुभ परिणाम से तो मात्र प्रशस्त-अप्रशस्त प्रकृतिओं के स्थिति-अनुभाग में ही अन्तर पड़ता है; प्रकृति-प्रदेश बंध तो सतत एक-समान ही चल रहा है; अर्थात् शुभ-भावों से भी घाति कर्म रूप पाप तो बँधता ही रहता है—यह समझ में आ जाने पर पुण्य भी पाप के समान ही संसार-वर्धक प्रतीत होने लगता है।

३.''**सव्वाओ दु ठिदीओ, सुहासुहाणंपि होंति असुहाओ।**
माणुस-तिरिक्खदेवाउगं च मोत्तूण सेसाणं।।

– गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा १५४।

मनुष्य तिर्यंच और देव आयुष्क को छोड़कर शेष सभी शुभ-अशुभ प्रकृतिओं की स्थिति, अशुभ होती है।''—यह समझ में आ जाने पर प्रशस्त-प्रकृतिओं को अच्छा मानने का परिणाम नष्ट हो जाता है।

४.''**सव्वुक्कस्सठिदीणं, मिच्छाइट्ठी दु बंधगो भणिदो।**
आहारं तित्थयरं, देवाउं वा विमोत्तूणं।। – वही, गाथा १३५।

आहारक, तीर्थंकर और देवायु को छोड़कर शेष सभी प्रकृतिओं की उत्कृष्ट स्थिति मिथ्यादृष्टि बाँधता है।''

मिथ्यादृष्टि जीव को पाप-जीव या संसार-तत्त्व कहा गया है। जिनकी उत्कृष्ट स्थिति मिथ्यात्व में बँधती है, वे प्रशस्त-प्रकृतिआँ वास्तव में प्रशस्त/अच्छी कैसे हो सकती हैं ?—यह समझ में आ जाने पर प्रशस्त-प्रकृतिओं को अच्छा मानने का परिणाम नष्ट हो जाता है।

५.यद्यपि प्रशस्त-प्रकृतिओं की स्थिति अप्रशस्त-प्रकृतिओं से आधी है; जैसे असाता-वेदनीय की ३० कोड़ाकोड़ी सागर, साता-वेदनीय की १५ कोड़ाकोड़ी सागर; नीच-गोत्र की २० कोड़ाकोड़ी सागर, उच्च-गोत्र की १० कोड़ाकोड़ी सागर इत्यादि; तथापि कोई भी जीव इस स्थिति को पूर्णतया भोग नहीं पाता है। कोई भी जीव त्रस पर्याय में अधिक से अधिक साधिक दो हजार सागर पर्यंत रह सकता है।

उसमें से ७४० सागर, नरक में तथा १२६० सागर, स्वर्ग/वैमानिकों में व्यतीत होते हैं। शेष साधिक में मनुष्य, तिर्यंच, भवनवासी, वानव्यंतर और ज्योतिष्कों के भव आते हैं। इस अवधि में यदि अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ पूर्वक पूर्ण स्वरूप-लीन हो गया तो पाप-पुण्य दोनों का नाशकर सिद्ध हो जाता है।

यदि सिद्ध नहीं हुआ तो समय पूर्ण होते ही नियम से स्थावर हो जाता है। वहाँ पुण्योदय की बहुलता नहीं है; अतः बँधा हुआ पुण्य, पाप में बदलकर पाप के भंडार को बड़ाने में ही कारण बनता है।— यह समझ में आ जाने पर प्रशस्त प्रकृतिओं का आकर्षण तथा वे जिन परिणामों का निमित्त पाकर बँधती हैं; उन परिणामों का आकर्षण/उन्हें अच्छा/हितकर/उपादेय मानने का भाव, समाप्त हो जाता है।

६.प्रातः-स्मरणीय अध्यात्म-योगी मुनिवर योगीन्दुदेव अपनी कृति परमात्म-प्रकाश के अध्याय २, दोहा ६० में लिखते हैं—

''**पुण्णेण होइ विहवो, विहवेण मओ, मएण मइ-मोहो।**
मइ-मोहेण य पावं, ता पुण्णं अम्ह मा होउ।।

पुण्य से वैभव प्राप्त होता है, वैभव से मद/घमण्ड होता है, मद से मति, मोहित होती है/हिताहित का विवेक नष्ट हो जाता है, विवेक-नाश से पाप होते हैं; अतः ऐसे पुण्य हमें न हों।''

जो पुण्य, अंत में पापरूप ही परिणमित हो जाते हैं; वे पुण्य, भले कैसे हो सकते हैं ?—यह समझ में आ जाने पर पुण्य को भला मानने का भाव नष्ट हो जाता है।

७.समयसार ग्रंथ की तात्पर्य-वृत्ति टीका में पुण्य-पापाधिकार को पूर्ण करते हुए आचार्य जयसेन स्वामी पुण्य-परिणाम को पाप कहने के तीन कारण इसप्रकार लिखते हैं—

अ. बहिर्द्रव्य का अवलंबन होने से, पराधीनता के कारण पाप है।
ब. स्वरूप से पतित करने के कारण पाप है।
स. सम्यक्त्वादि का विरोधी होने से पाप है।

—यह समझ में आ जाने पर पुण्य को वास्तविक धर्म मानने का भाव नष्ट हो जाता है।

८.वास्तव में पुण्य की इच्छा से पुण्य नहीं होता है; वरन् पुण्य-पाप

को एक समान आस्रव-बंधरूप संसार-तत्त्व मानकर, उनसे भिन्न ज्ञानानंद-स्वभावी अपने भगवान आत्मा में स्थिरता की स्थिति में कमी रह जाने पर उस कमीरूप शुभ-राग से सातिशय पुण्य बँधता है। जिसके फल में अर्धचक्री, चक्री, तीर्थंकर आदि पद स्वत: मिल जाते हैं—यह समझ में आ जाने पर पुण्य-पाप से विरक्त हो आत्माराधना का भाव जागृत होता है।

*९.*इसी समझ से पंचेंद्रिय विषय-भोगों की प्राप्ति के लिए अन्य-अन्य देवी-देवताओं को पूजने आदि के भाव समाप्त हो जाते हैं।

*१०.*जिन मंद-कषायरूप शुभ-भावों का निमित्त पाकर प्रशस्त-प्रकृतिआँ बँधती हैं, वे वास्तव में सुख-गुण के घात में निमित्त होनेवाले मोहनीय-कर्म के उदय-जन्य परिणाम हैं। मोहनीय-कर्म की सभी प्रकृतिआँ, अप्रशस्त ही हैं; अत: उनके उदय में होनेवाले औदयिक भाव, प्रशस्त-प्रकृतिओं के बंध में निमित्त होने से तथा कम आकुलतामय होने से भले ही प्रशस्त कहे जाते हों; परन्तु वास्तव में वे पाप ही हैं—यह समझ में आ जाने पर उनका व्यामोह नष्ट हो जाता है।

*११.*वास्तव में आत्माराधना की दशा में शेष रहे शुभ-भाव से ही पुण्य प्रकृतिओं का उत्कृष्ट अनुभाग-बंध होता है। जिसके उदय में लौकिक अनुकूलताएं स्वत: मिल जाती हैं; अत: एक आत्माराधना ही सर्वत: कर्तव्य है।

इत्यादि रूप में प्रस्तुत प्रकरण तत्त्वादि संबंधी समस्त विपरीत मान्यताओं को नष्ट करने में पूर्णतया सक्षम है।

प्रश्न ६७ : गाथा ४५-४६ के आधार से अनंतानुबंधी आदि कषायों का कार्य तथा वासना-काल स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : उन्हें बताने वाली वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

पढमादिया कसाया, सम्मत्तं देससयलचारित्तं।
जहखादं घादंति य, गुणणामा होंति सेसावि।।४५।।
अंतोमुहुत्तपक्खं, छम्मासं संखऽसंखणंतभवं।
संजलणमादियाणं, वासणकालो दु णियमेण।।४६।।
क्रमश: प्रथमादि कषाय, सम्यक्त्व-देशचारित्र-सकल।
यथाख्यात चारित्र घातती, शेष नाम सम काम सकल।।४५।।
अंतर्मुहूर्त पक्ष छह महिना, संख-असंख-अनंत जनम।
वासनकाल संज्वलन आदिका क्रमश: यह अटल नियम।।४६।।

शब्दश: अर्थ : **पढम+आदिया**=प्रथम आदि, **कसाया**=कषायें, **सम्मत्तं**=सम्यक्त्व को, **देससयलचारित्तं**=देश-चारित्र और सकल-चारित्र को, **जहखादं**=यथाख्यात-चारित्र को, **घादंति**=घातती हैं, **य**=और, **गुणणामा**=नाम के अनुसार गुणवालीं/कार्य करनेवालीं, **होंति**=होती हैं, **सेसा+वि**=शेष भी।।४५।।

अंतोमुहुत्त=अंतर्मुहूर्त, **पक्खं**=पक्ष/१५ दिन, **छम्मासं**=छह माह, **संखऽसंखणंतभवं**=संख्यात-असंख्यात-अनंत भव, **संजलणं+आदियाणं**=संज्वलन आदि का, **वासणकालो**=वासना-काल, **दु**=वास्तव में, **णियमेण**=नियम से।।४६।।

अन्वय : पढम आदिया कसाया सम्मत्तं देसचारित्तं सयलचारित्तं य जहखादं घादंति सेसावि गुणणामा होंति।

संजलणं आदियाणं वासणकालो णियमेण दु अंतोमुहुत्त पक्खं छम्मासं संखभवं असंखभवं अणंतभवं।

सरलार्थ : प्रथम आदि कषायें सम्यक्त्व, देश-चारित्र, सकल-चारित्र और यथाख्यात-चारित्र को घातती हैं। शेष कषायें भी अपने-अपने नाम के अनुसार, कार्य करती हैं।

संज्वलन आदि कषायों का वासना-काल, वास्तव में नियम से अंतर्मुहूर्त, पंद्रह दिन, छह माह और संख्यात-असंख्यात-अनंत भव है।

स्पष्टीकरण : जब जीव अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में स्थिर नहीं होता है, तब इसकी परिणति कषायमय विकृत रहने से, इसमें विशिष्ट गुण/दशाएं व्यक्त नहीं हो पाती हैं; इसे ही यहाँ 'कषायें उन्हें घातती हैं'—इन शब्दों से कहा गया है। इसका ही विस्तार करते हैं—

जब जीव स्वयं, अपने को अपनत्वरूप से स्वीकार कर तद्रूप परिणमन नहीं करता है, सम्यक्त्व या सम्यक्त्वाचरण प्रगट नहीं करता है; तब अनंतानुबंधी कषाय कर्म का उदय विद्यमान होने से निमित्तरूप में अनंतानुबंधी कषाय, सम्यक्त्व को घातती है—ऐसा कहा गया है।

जब जीव स्वयं, विशिष्ट स्वरूप-स्थिरता का अभाव होने से हिंसादि पापों तथा पंचेंद्रिय विषय-भोगों रूप अविरति का रंच-मात्र भी त्याग नहीं कर पाता है, देश-चारित्र दशा व्यक्त नहीं कर पाता है; उस समय अप्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म का उदय विद्यमान होने से, निमित्तरूप में अप्रत्याख्यानावरण कषाय, देश-चारित्र को घातती है—ऐसा कहा गया है।

जब जीव स्वयं, अति-विशिष्ट स्वरूप-स्थिरता का अभाव होने से हिंसादि पापों, पंचेंद्रिय विषय-भोगों, आरम्भ-परिग्रह आदि रूप अविरति का, सावद्य-योगों का पूर्णतया त्याग नहीं कर पाता है; सकल-चारित्र दशा व्यक्त नहीं कर पाता है; उस समय प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म का उदय विद्यमान होने से, निमित्तरूप में प्रत्याख्यानावरण कषाय, सकल-चारित्र को घातती है—ऐसा कहा गया है।

जब जीव स्वयं, परिपूर्ण स्वरूप-स्थिरता का अभाव होने से पूर्णतया निष्कषाय/वीतराग नहीं हो पाता है, आत्मा का पूर्ण स्वरूप पर्याय में व्यक्त नहीं कर पाता है, उस समय संज्वलन कषाय कर्म का उदय विद्यमान होने से, निमित्तरूप में संज्वलन कषाय, यथाख्यात-चारित्र को घातती है—ऐसा कहा गया है।

शेष रहीं हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद रूप नौ नो कषायें अपने नाम के अनुसार ही कार्य करती हैं।

जैसे—स्वरूप-अस्थिरता की स्थिति में बहिर्वृत्ति होने पर किसी को अनुकूल समझ जब यह स्वयं, प्रसन्नता रूप परिणमित होता है, उस समय निमित्तरूप में विद्यमान कषाय कर्म का उदय, हास्य कषाय है।

रति आदि में भी इसीप्रकार समझ लेना चाहिए।

४६वीं गाथा में इन कषायों का वासना-काल बतलाया है।

''**उदयाभावेऽपि तत्सन्स्कारकालो वासनाकाल:—**(किसी विवक्षित कषाय के) उदय का अभाव होने पर भी उसका संस्कार बना रहना, वासना है। वह जितने समय पर्यंत रहती है, उसे वासना-काल कहते हैं।''

जैसे—किसी जीव को किसी कारण-वश किसी के प्रति क्रोध

जागृत हुआ। कुछ समय के बाद वह क्रोध तो चला गया; परन्तु उसके मन में अभी उसके प्रति क्षमा-भाव जागृत नहीं हुआ है। जब कभी स्मरण आते ही उसके प्रति पुन: क्रोध-भाव जागृत हो जाता है—ऐसा जितने समय पर्यंत होता रहता है, उतना समय उसका वासना-काल कहलाता है।

संज्वलनरूप क्रोधादि कषाय का वासना-काल, अंतर्मुहूर्त है अर्थात् अंतर्मुहूर्त (कम से कम, एक समय अधिक एक आवली तथा अधिक से अधिक, दो समय कम ४८ मिनिट अथवा मध्यम अंतर्मुहूर्त) में ही वह संस्कार नष्ट हो जाता है। प्रत्याख्यानावरणरूप क्रोधादि का वासना-काल, एक पक्ष/१५ दिन, अप्रत्याख्यानावरणरूप क्रोधादि का ६ माह तथा अनंतानुबंधीरूप क्रोधादि का संख्यात, असंख्यात और अनंत भव पर्यंत संस्कार बना रह सकता है।

प्रथमानुयोग के ग्रंथों में इन संस्कारों के उदाहरण रूप अनेकानेक कथानक विद्यमान हैं। जिज्ञासु पाठक एतदर्थ उनका स्वाध्याय करें। विचार करने पर अपने वर्तमान जीवन की भी अनेक घटनाएं इसकी उदाहरण बन सकती हैं। इन्हें हम सारणी द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं—

कषायों का कार्य और वासना-काल

क्रम	कषाय-नाम	कार्य	वासना-काल
१.	अनंतानु. क्रोधादि	सम्यक्त्व का घात	संख्यात-असंख्यात -अनंत भव तक
२.	अप्रत्या. क्रोधादि	देशचारित्र का घात	छह माह
३.	प्रत्या. क्रोधादि	सकलचारित्र का घात	पंद्रह दिन
४.	संज्व. क्रोधादि	यथाख्यातचारित्र का घात	अंतर्मुहूर्त

प्रश्न ६८ : किसी कारण-वश दो व्यक्तिओं में परस्पर द्वेष हो गया है। बाद में पहले व्यक्ति ने अपना द्वेष-भाव समाप्तकर समता धारण कर ली है; परन्तु दूसरा व्यक्ति इसे देखने मात्र से ही तीव्र क्रोधित हो जाने के कारण यह पहला व्यक्ति, उस दूसरे व्यक्ति के साथ किसी भी प्रकार का व्यवहार नहीं कर पा रहा है; ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए?

उत्तर : वास्तव में समता-भाव धारण करना/धर्ममय होना, अपना पूर्ण स्वाधीन परिणमन है। यदि अपनी अज्ञानता/कमजोरी-वश किसी के प्रति क्रोधादि भाव उत्पन्न हो ही गया है तो कोई बात नहीं है; अब भी आत्म-निरीक्षण कर, पुन: वस्तु-स्वरूप का विचार कर, तत्त्व निर्णय कर, स्व-पर का भेद-विज्ञान कर, आत्मानुभव पूर्वक उस क्रोधादि के संस्कार को नष्ट कर सकते हैं। अपने संस्कार को समाप्त कर देने के बाद उस दूसरे व्यक्ति से व्यवहार बड़ाना कोई आवश्यक नहीं है।

यदि उसके मन में भी अपने प्रति सहृदयता का भाव है तो व्यवहार बड़ सकता है; परन्तु यदि ऐसा प्रतीत होता है कि उसके मन में मेरे प्रति अच्छा भाव नहीं है। मुझे देखकर ही उसके क्रोधादि जागृत हो जाते हैं तो अपने मन में माध्यस्थ्य भाव धारण कर, अपना विवेक जागृत कर, कषाय के प्रसंगों से दूर रहना ही बुद्धिमानी है। इसप्रकार अन्य के मन में अपने प्रति क्षमा/समता-भाव नहीं होने पर भी हम वस्तु-स्वरूप का अवलम्बन लेकर अपना जीवन समतामय बना सकते हैं।

प्रश्न ६९ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होने वाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं-

१.यह प्रकरण आत्म-निरीक्षण करने की प्रेरणा देता है। कषाय का प्रसंग समाप्त हो जाने के बाद पुन: याद आने पर हमारी क्या स्थिति होती है, इससे हम अपनी भूमिका का ज्ञानकर, उससे आगे बड़ने की दिशा में पुरुषार्थ कर सकते हैं।

२.इस वासना-काल के आधार से ही देव, गुरु, धर्म का सम्यक् निर्णय कर हम सद्देव-गुरु को अपना आदर्श बनाकर सद्धर्ममय अपना जीवन बना सकते हैं।

३.कषायों के कार्य तथा वासना-काल को समझकर ही हमें बुद्धि पूर्वक किस वातावरण में रहना, किनकी संगति करना इत्यादि का निर्णय हम कर सकते हैं।

४.कषायों का संस्कार आत्मानुभव पूर्वक ही नष्ट होता है—यह समझ में आ जाने पर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ पूर्वक आत्म-स्थिरता की दिशा में ही हम सतत प्रयत्न-शील रहते हैं।

५.गुणस्थान के अनुसार एक बार शुद्धोपयोग के बाद पुन: शुद्धोपयोग

अधिक से अधिक कितने काल के अंतराल-बाद हो सकता है—यह निर्णय इस प्रकरण से हो जाने के कारण अनेकानेक विसंगतिओं/विसंवादों से सहज ही बचकर, व्यक्ति-वाद को बड़ावा देनेवाली मनोवृत्तिओं से हटकर, प्रत्येक जीव को समान दृष्टि से देखते हुए स्वरूप-स्थिरता की दिशा में सतत प्रयास करते रहने की भावना प्रबल होती है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ७० : गाथा ४७ से ५१ पर्यंत ५ गाथाओं के आधार पर कर्मों का विपाक की अपेक्षा विभाजन स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उन्हें बताने वाली वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

देहादी फासंता, पण्णासा णिमिण-ताव-जुगलं च।
थिर-सुह-पत्तेय-दुगं, अगुरु-तियं पोग्गल-विवाई।।४७।।
आऊणि भवविवाई, खेत्तविवाई य आणुपुव्वीओ।
अट्ठत्तरि अवसेसा, जीव-विवाई मुणेयव्वा।।४८।।
वेदणिय-गोद-घादी-णेकावण्णं तु णाम-पयडीणं।
सत्ताबीसं चेदे, अट्ठत्तरि जीव-विवाई।।४९।।
तित्थयरं उस्सासं, बादर-पज्जत्त-सुस्सरादेज्जं।
जसतस-विहाय-सुभगदु, चउगइ पणजाइ सगवीसं।।५०।।
गदि जादी उस्सासं, विहायगदि तसतियाण जुगलं च।
सुभगादि-चउज्जुगलं, तित्थयरं चेदि सगबीसं।।५१।।

तन से गिनो पचास स्पर्श तक, अरु निर्माणातप उद्योत।
स्थिर शुभ प्रत्येक युगल, अगुरुलघु त्रिक विपाक पुद्गल।।४७।।
आयु भव विपाक चारों गत्यानुपूर्वी क्षेत्र विपाक।
शेष अठत्तर सभी समझ लो, हैं ये निश्चित जीव विपाक।।४८।।
वेदनीय दो गोत्र घातिया, सब इक्यावन हों मिलकर।
शेष सत्ताइस नामकर्म की अठहत्तर होतीं मिलकर।।४९।।
तीर्थंकर उच्छ्वास और बादर पर्याप्त सुस्वर आदेय।
यश-त्रस-विहाय-सुभगादि द्विक चार गति पाँचों जातीय।।५०।।
गति जाति उच्छ्वास विहायोगति त्रसत्रिक सुभगादि चार।
की लो दो दो सत्ताइस हों इनमें जोड़ो तीर्थंकर।।५१।।

शब्दश: अर्थ : **देहादी**=शरीर से प्रारंभ कर, **फासंता**=स्पर्श पर्यंत, **पण्णासा**=पचास, **णिमिण**=निर्माण, **तावजुगलं**=आतप युगल/आतप-उद्योत, **च**=और; **थिरसुहपत्तेयदुगं**=स्थिर-शुभ-प्रत्येक द्विक/स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, प्रत्येक-साधारण; **अगुरुतियं**=अगुरुलघु, उपघात, परघात; **पोग्गलविवाई**=पुद्गल विपाकी।।४७।।

आऊणि=आयुष्क, **भवविवाई**=भव-विपाकी, **खेत्तविवाई**=क्षेत्र-विपाकी, **य**=और, **आणुपुव्वीओ**=आनुपूर्वी, **अट्ठत्तरि**=अठत्तर, **अवसेसा**=शेष रहीं, **जीवविवाई**=जीव-विपाकी, **मुणेयव्वा**=जानना चाहिए।।४८।।

वेदणिय=वेदनीय, **गोद**=गोत्र, **घादीण**=घाति की, **एकावण्णं**=एक+पचास=इक्यावन, **तु**=और, **णामपयडीणं**=नाम की प्रकृतिआँ, **सत्ताबीसं**=सात+बीस=सत्ताईस, **च**=और, **एदे**=ये, **अट्ठत्तरि**=अठत्तर, **जीवविवाई**=जीव-विपाकी।।४९।।

तित्थयरं=तीर्थंकर, **उस्सासं**=उच्छ्वास, **बादर**=बादर, **पज्जत्त**=पर्याप्त, **सुस्सर**=सुस्वर, **आदेज्जं**=आदेय, **जस**=यशस्कीर्ति, **तस**=त्रस, **विहाय**=विहायोगति, **सुभग**=सुभग, **दु**=दो, **चउगइ**=चार गति, **पणजाइ**=पाँच जाति, **सग+बीसं**=सात+बीस=सत्ताईस।५०।।

गदि=गति, **जादी**=जाति, **उस्सासं**=उच्छ्वास, **विहायगदि**=विहायोगति, **तसतियाण**=त्रसत्रिक की, **जुगलं**=युगल, **च**=और, **सुभगादि**=सुभग आदि, **चउज्जुगलं**=चार की युगल, **तित्थयरं**=तीर्थंकर, **च+एदि**=और ये, **सग+बीसं**=सात+बीस=सत्ताईस।।५१।।

अन्वय : देह आदी फास अंता पण्णासा निमिण च ताव जुगलं थिर-दुगं सुह-दुगं पत्तेय-दुगं अगुरु-तियं पोग्गल-विवाई।

आऊणि भव-विवाई य आणुपुव्वीओ खेत्त-विवाई अवसेसा अट्ठत्तरि जीव-विवाई मुणेयव्वा।

वेदणिय-गोदघादीण एकावण्णं तु च सत्तावीसं णामपयडीणं एदे अट्ठत्तरि जीव-विवाई।

तित्थयरं उस्सासं बादर-दु पज्जत्त-दु सुस्सर-दु आदेज्जं-दु जस-दु तस-दु विहाय-दु सुभग-दु गइ-चउ जाइ-पण सगवीसं।

गदि जादि उस्सासं विहायगदि जुगलं च तसतियाण जुगलं सुभग

आदि चउज्जुगलं च तित्थयरं इदि सगवीसं।

सरलार्थ : शरीर से प्रारंभ कर स्पर्श पर्यंत ५० अर्थात् ५ शरीर, ५ बंधन, ५ संघात, ३ अंगोपांग, ६ संस्थान, ६ संहनन, ५ वर्ण, २ गंध, ५ रस, ८ स्पर्श; निर्माण; आतप-युगल/आतप, उद्योत; स्थिर-शुभ-प्रत्येकद्विक अर्थात् स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, प्रत्येक, साधारण; अगुरुत्रिक/अगुरुलघु, उपघात, परघात—ये (६२ प्रकृतिआँ) पुद्गल-विपाकी हैं।

चार आयुष्क, भव विपाकी और चार आनुपूर्वी, क्षेत्र-विपाकी हैं। शेष रहीं अठत्तर प्रकृतिआँ, जीव-विपाकी जानना चाहिए।

वेदनीय-दो, गोत्र-दो, घाति की सैंतालीस—कुल इक्यावन तथा नामकर्म की शेष रहीं सत्ताईस—ये अठत्तर जीव-विपाकी हैं।

तीर्थंकर, उच्छ्वास, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, सुस्वर, दु:स्वर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, त्रस, स्थावर, प्रशस्त-विहायोगति, अप्रशस्त-विहायोगति, सुभग, दुर्भग, चार गति, पाँच जाति—ये सत्ताईस हैं।

४ गति, ५ जाति, उच्छ्वास, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, त्रस-बादर-पर्याप्त का युगल, सुभग आदि ४ का युगल और तीर्थंकर—ये २७ हैं।

स्पष्टीकरण : कर्म-प्रकृतिओं के अनुभागोदय को विपाक कहते हैं। कर्म-प्रकृति के अनुभागोदय का सीधा निमित्त-नैमित्तिक संबंध जिसके साथ होता है, उसे तत्संबंधी विपाकी कहते हैं। इस अपेक्षा विपाक के चार भेद हैं—***१.*** पुद्गल-विपाक, ***२.*** भव-विपाक, ***३.*** क्षेत्र-विपाक और ***४.*** जीव-विपाक।

१.पुद्गल-विपाक—जिन प्रकृतिओं के उदय का सीधा संबंध शरीर आदि पुद्गल के साथ है अर्थात् जिनका उदय मात्र पुद्गल पर आता है, उन्हें पुद्गल-विपाक/विपाकी कहते हैं। ये शरीर आदि बाषठ प्रकृतिआँ हैं।

२.भव-विपाक—जिन प्रकृतिओं के उदय का सीधा संबंध असमान-जातीय द्रव्य-पर्याय रूप भव के साथ है, उन्हें भव-विपाक/विपाकी कहते हैं। आयुष्क कर्म की चारों प्रकृतिआँ, भव-विपाकी हैं।

३.क्षेत्र–विपाक—जिन प्रकृतिओं के उदय का सीधा संबंध विग्रहगति के क्षेत्र के साथ होता है, उन्हें क्षेत्र–विपाक/विपाकी कहते हैं। नामकर्म की आनुपूर्वी संबंधी चार गत्यानुपूर्वी प्रकृतिआँ, क्षेत्र–विपाकी हैं।
४.जीव–विपाक—जिन प्रकृतिओं के उदय का सीधा संबंध जीव के परिणामों के साथ होता है, उन्हें जीव–विपाक/विपाकी कहते हैं। पूर्वोक्त तीन विपाकों से शेष रहीं अठत्तर प्रकृतिआँ, जीव–विपाकी हैं।

इन्हें हम सारणी द्वारा समझ सकते हैं। एतदर्थ पृष्ठ १२६–१२७ देखिए।

प्रश्न ७१ : इस प्रकरण को समझने से होने वाले लाभ लिखिए?
उत्तर : इस प्रकरण को समझने से होने वाले लाभों को विपाक की अपेक्षा पृथक्–पृथक् देखते हैं। उनमें से पुद्गल–विपाकी प्रकृतिओं को जानने से होने वाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.त्रैकालिक जीव के साथ तो किन्हीं भी प्रकृतिओं का कभी भी निमित्त–नैमित्तिक संबंध होता ही नहीं है; इन पुद्गल–विपाकी बाषठ प्रकृतिओं का तो निमित्त–नैमित्तिक संबंध वास्तव में जीव के क्षणिक परिणामों के साथ भी नहीं है। इनका उदय तो सीधा शरीर पर ही आता है। शरीर की सम्पूर्ण व्यवस्था इन कर्मों के अधीन है —यह समझ में आ जाने पर शरीर संबंधी समस्त चिंता समाप्त हो जाती है।

२.शरीर का रूप–रंग, आकार–प्रकार, शक्ति, रोग–निरोग आदि सभी कुछ, इन कर्मों के अधीन है; मेरे अधीन नहीं है—यह समझ में जा जाने पर उनमें परिवर्तन करने का भाव नष्ट हो जाता है। जिससे परिवर्तन के लिए किए जाने वाले अन्याय, अनीति, असदाचार, अभक्ष्य–भक्षण, अन्य देवी–देवताओं की सेवा–उपासना आदि निरर्थक प्रयासों से बचकर जीवन शुद्ध, सात्त्विक, सदाचार–सम्पन्न हो जाता है।

३.इसी समझ के बल पर प्राप्त संयोग को सहज स्वीकार करने का भाव जागृत होता है। जिससे तत्संबंधी दीनता, हीनता, घमण्ड आदि का भाव नष्ट होकर जीवन सहज समतामय हो जाता है।

४.इसी समझ के बल पर अन्य जीवों के शरीर को देखकर उसे अपमानित करने या उसके प्रति आकर्षित होने का भाव नष्ट हो जाता

है। जिससे व्यर्थ के राग–द्वेष से बच जाते हैं।

५.इसी जानकारी के बल पर शरीर को तथा उसकी प्रत्येक परिस्थिति को अपना नहीं मानकर, उससे सतत भेद–विज्ञान करते रहने का भाव जागृत होता है। शरीर की क्रिया से धर्म आदि मानने का भाव नष्ट हो जाता है। जिससे मिथ्यात्व नष्ट होकर, जीवन सम्यक् रत्नत्रय–सम्पन्न अतींद्रिय आनंदमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ, पुद्गल–विपाकी प्रकृतिओं को समझने से प्राप्त होते हैं।

भव–विपाकी प्रकृतिओं को समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.जीव और शरीर के एक क्षेत्रावगाही संबंध रूप असमान–जातीय मनुष्य आदि द्रव्य–पर्यायों की स्थिरता का कार्य, भव विपाकी प्रकृतिओं के उदयाधीन है—यह समझ में आ जाने पर शरीर को टिकाने के लिए किए जानेवाले निरर्थक प्रयास समाप्त होकर, जीवन निश्चिंत, निर्भय हो जाता है।

२.इसी समझ के बल पर अन्याय, अनीति, असदाचार, अभक्ष्य औषधिओं के सेवन आदि रूप विकृत–भाव भी नष्ट होकर; शरीर की रहने या छूटने रूप प्रत्येक परिस्थिति को सहज स्वीकार करने का भाव जागृत होता है। जिससे जीवन शुद्ध, सात्त्विक, सदाचार–सम्पन्न, सहज समतामय हो जाता है।

३.सभी संसारी जीवों के शरीर की स्थिति, कर्माधीन है—यह समझ में आ जाने पर 'मैं अन्य को मार सकता हूँ या बचा सकता हूँ; कोई मुझे मार सकता है या बचा सकता है' इत्यादि विपरीत मान्यताएं नष्ट हो जाने से, तत्संबंधी राग–द्वेष भी नष्ट होकर जीवन निर्भय, निराकुल हो जाता है।

४.वास्तव में तो पूर्व–कृत अपराधों की सजा भोगने के लिए प्राप्त यह शरीर, जेल/कारागृह/बंदीघर है—यह समझ में आ जाने पर शरीर से विरक्त हो; अशरीरी, मुक्त दशा को प्राप्त करने की दिशा में आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ जागृत होता है।

५.वास्तव में इन प्रकृतिओं का संबंध हमारे परिणामों के साथ नहीं

गाथा ४७ से ५१ पर्यन्त ५ गाथाओं के आधार से विपाक की अपेक्षा कर्म-प्रकृतिओं का विभाजन

क्रम	कर्म नाम-भेद	पुद्गलविपाक	भवविपाक	क्षेत्रविपाक	जीवविपाक
१.	ज्ञानावरण-५	x	x	x	मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय -केवल ज्ञानावरण।
२.	दर्शनावरण-९	x	x	x	चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवल -दर्शनावरण, स्त्यानगृद्धि, निद्रानि., प्रचलाप्रचला, निद्रा, प्रचला।
३.	वेदनीय-२	x	x	x	सातावेदनीय-असातावेदनीय।
४.	मोहनीय-२८	x	x	x	मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति; अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्या., संज्वलन संबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ; हास्यादि नौ नो कषायें।
५.	आयुष्क-४	x	नरक-तिर्यंच-मनुष्य-देवायुष्क।	x	x
६.	नामकर्म-९३	५ शरीर, ५ बंधन, ५ संघात, ६ संस्थान, ६ संहनन, ३ अंगोपांग, ५ वर्ण, २ गंध, ५ रस, ८ स्पर्श, निर्माण, आतप, उद्योत, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, प्रत्येक, साधारण, अगुरुलघु, उपघात, परघात।	x	नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी।	४ गति, ५ जाति, उच्छ्वास, २ विहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, तीर्थंकर—२७।
७.	गोत्रकर्म-२	x	x	x	उच्चगोत्र, नीचगोत्र।
८.	अंतराय-५	x	x	x	दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तराय।
कुल ८ कर्मों की १४८ प्रकृतिआँ		६२	४	४	७८

इसप्रकार एकमात्र आयुष्क कर्म भव-विपाकी है; नामकर्म में इस एक भव-विपाक को छोड़कर शेष तीन प्रकार के विपाक-संपन्न प्रकृतिआँ हैं; शेष छह कर्मों की सभी प्रकृतिआँ एकमात्र जीव-विपाकमय हैं।

है—यह समझ में आ जाने पर उनके प्रति उदासीनता का भाव प्रगट होकर, अपने अनादि-अनंत, भव-रहित स्वभाव में ही स्थिर रहने का पुरुषार्थ जागृत होता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ, इन प्रकृतिओं को समझने से होते हैं।

क्षेत्र-विपाकी प्रकृतिओं को समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ इसप्रकार हैं—

१.इन प्रकृतिओं का संबंध भी मेरे साथ नहीं है, विग्रहगति रूप क्षेत्र के साथ है—यह समझ में आ जाने पर इन संबंधी निश्चिंतता प्रगट हो जाती है।

२.एक शरीर के अवसान के बाद, दूसरा शरीर प्राप्त होने के पूर्व की समग्र व्यवस्था इन क्षेत्र-विपाकी प्रकृतिओं के अधीन है। अन्य कोई यमराज आदि यह व्यवस्था नहीं करते हैं—यह समझ में आ जाने पर तत्संबंधी मान्यताएं नष्ट हो जाती हैं।

३.इन प्रकृतिओं के कारण कम से कम, एक समय और अधिक से अधिक, तीन समय पर्यंत ही यह आत्मा, औदारिक या वैक्रियिक शरीर से रहित रहता है। चौथे समय में तो नियम से नया शरीर प्राप्त हो ही जाता है—यह समझ में आ जाने पर 'अतृप्त इच्छा के कारण विवक्षित व्यक्ति का आत्मा अभी भटक रहा है; श्राद्ध आदि के माध्यम से उसके आत्मा को तृप्त कर, उसे गति दो' —इत्यादि कपोल-कल्पित कथनों की असत्यता का परिज्ञान हो जाता है। जिससे व्यर्थ की अनेकानेक समस्याओं से स्वयमेव हम बच जाते हैं।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

जीव-विपाकी प्रकृतिओं को समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.इन प्रकृतिओं के उदय का संबंध पूर्णतया अपने परिणामों के साथ है—यह समझ में आ जाने पर अपने परिणामों का निरीक्षण कर, उनमें परिवर्तन के लिए अपने अपरिणामी तत्त्व का आश्रय लेने का भाव जागृत होता है। बाह्य परिस्थिति, संयोग आदि से दृष्टि हटकर दृष्टि आत्मोन्मुखी होती है।

२.इसी समझ के बल पर अपने प्रत्येक विकृत परिणमन को कर्म-कृत मानकर, उन्हें सहज स्वीकार करते हुए, उनसे सतत भेद-विज्ञान करते रहने का भाव जागृत होता है। जिससे दीनता, हीनता, घमण्ड आदि रूप परिणाम नष्ट होकर जीवन सहज समतामय हो जाता है।

३.इसी आधार पर अन्य को भी पर्यायरूप से देखने का भाव नष्ट हो जाता है। जिससे व्यर्थ के राग-द्वेष समाप्त हो जाते हैं।

४.यद्यपि ७८ प्रकृतिआँ जीव-विपाकी होने से इन संबंधी औदयिक भाव, जीव की क्षणिक पर्याय में होते हैं; तथापि वे सभी नवीन कर्म-बंध के कारण नहीं हैं। नवीन कर्म-बंध के कारण तो उन्हें अपना मानना, उनके प्रति राग-द्वेष करना इत्यादि रूप मोह परिणाम हैं—यह समझ में आ जाने पर, उनसे भेद-विज्ञान करते हुए अपने ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा को अपना मानकर, इसमें ही स्थिर रहने का पुरुषार्थ जागृत होता है। जिससे जीवन अतींद्रिय आनंदमय निराकुल हो जाता है।

५.नामकर्म की २७ प्रकृतिओं को दो-दो बार बताने का कारण यह है कि एक तो आचार्यदेव यह बताना चाह रहे हैं कि इनका बाह्य संयोगों के साथ कुछ भी संबंध नहीं है; अत: उन्हें मिलाने-हटाने का निरर्थक प्रयास नहीं करना। दूसरा यह कि यदि स्वरूप-लीन नहीं रह सको तो इसप्रकार बदल-बदलकर स्वाध्याय आदि में ही अपना समय व्यतीत कर उपयोग विशुद्ध रखना; पाप-परिणामों में नहीं उलझ जाना।—इसप्रकार यह प्रकरण स्वाध्याय की भी प्रेरणा देता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ७२ : निक्षेप का स्वरूप और उसकी आवश्यकता लिखिए?

उत्तर : 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'क्षिप्' धातु से 'निक्षेप' शब्द बनता है। नामादि के द्वारा वस्तु में भेद करने के उपाय को न्यास या निक्षेप कहते हैं। संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय में अवस्थित वस्तु को उनसे निकालकर जो निश्चय में क्षेपण करता है, उसे निक्षेप कहते हैं। युक्ति से सुयुक्त मार्ग में प्रयोजन-वश जो वस्तु का नाम आदि चार भेदों में क्षेपण करता है, उसे निक्षेप कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि जिस वस्तु को प्रमाण और नय द्वारा भली-भाँति जान लिया है, उसके प्रचलित व्यवहार को निक्षेप कहते हैं। प्रमाण और नय, विषयी हैं

तथा निक्षेप, उनके विषय हैं।

निक्षेप की आवश्यकता स्पष्ट करते हुए तिलोयपण्णत्ति, अध्याय १, गाथा ८२वीं में आचार्य यतिवृषभस्वामी लिखते हैं कि—

"जो ण पमाणणयेहिं, णिक्खेवेणं णिरक्खदे अत्थं।
तस्साजुत्तं जुत्तं, जुत्तमजुत्तं च पडिहादि।।

जो प्रमाण और नय द्वारा निक्षेप से पदार्थ का निरीक्षण नहीं करता है, उसे अयुक्त पदार्थ, युक्त और युक्त पदार्थ, अयुक्त प्रतीत होता है।"

धवल नामक अपनी टीका में आचार्य वीरसेनस्वामी, पुस्तक १, गाथा १५वीं में इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

"अवगयणिवारणट्ठं, पयदस्स परूवणाणिमित्तं च।
संसय-विणास-णट्ठं, तच्चत्थवधारणट्ठं च।।

अप्रकृत विषय के निवारण के लिए, प्रकृत विषय के प्ररूपण के लिए, संशय का विनाश करने के लिए और तत्त्वार्थ का निश्चय करने के लिए निक्षेपों का कथन करना चाहिए।"

वहीं आगे वे यहाँ तक लिखते हैं कि "निक्षेपों को छोड़कर वर्णन किए गए सिद्धांत से वक्ता और श्रोता के उत्थान की संभावना कम रहती है; अत: निक्षेपों का वर्णन करना चाहिए।"

निष्कर्ष यह है कि पदार्थ अनंत तथा शब्द संख्यात ही होने के कारण एक शब्द द्वारा अनेक पदार्थों का वर्णन किया जाता है/एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। उनमें से वर्तमान में प्रयोग किया गया यह शब्द, किस अर्थ का वाचक है—यह निर्णय, निक्षेप द्वारा किया जाता है। जैसे किसी साधारण मनुष्य का नाम भी इंद्र हो सकता है, इंद्र की मूर्ति को भी इंद्र कहते हैं, इंद्रपद से च्युत होकर मनुष्य में आनेवाले जीव को भी इंद्र कहते हैं तथा शचिपति को भी इंद्र कहते हैं। इन चार अर्थों में से कहाँ कौन सा अर्थ लेना ? यह निर्णय निक्षेपों द्वारा किया जाता है।

यही कारण है कि आचार्यों ने प्रकरण को स्पष्ट करने के लिए निक्षेपों के माध्यम से उसकी विस्तृत चर्चा की है।

प्रश्न ७३ : निक्षेप के भेद और उनका सामान्य स्वरूप लिखिए?

उत्तर : निक्षेप के मुख्य चार भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

षट्खण्डागम और उसकी धवल नामक टीका में सर्वत्र, नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप में छह प्रकार के निक्षेपों का वर्णन है।

श्लोकवार्तिक में निक्षेप के अनंत भेद होने का भी उल्लेख है।

सामान्यतया नामादि चार भेद ही बहुलता से चर्चित हैं। इनका स्वरूप इसप्रकार है—

१.नाम निक्षेप—गुण, जाति, आकार आदि की अपेक्षा रखे विना मात्र अन्य से पृथक् करने के लिए किसी की कुछ भी संज्ञा करना, नाम निक्षेप है।

२.स्थापना निक्षेप—किसी विवक्षित वस्तु के विना ही उससे अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए किसी अन्य वस्तु में अपनी बुद्धि द्वारा उसका आरोपण करना, स्थापना निक्षेप है। इसके सदृश/तदाकार और असदृश/अतदाकार—ये दो भेद हैं। इनका स्वरूप नाम से ही स्पष्ट है।

३.द्रव्य निक्षेप—वर्तमान परिणमन की अपेक्षा रखे विना भूत-भावी योग्यताओं के आधार पर द्रव्य का व्यवहार करना, द्रव्य निक्षेप है। इसके आगम, नो आगम भेद तथा उनके अनेकानेक भेद-प्रभेद हैं।

४.भाव निक्षेप—पर्याय से परिणमित द्रव्य का उस रूप व्यवहार करना, भाव निक्षेप है। इसके आगम और नो आगम—ये दो भेद हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ में निक्षेप के भेद-प्रभेदों को कर्म पर घटित किया है।

प्रश्न ७४ : कर्म संबंधी निक्षेप के भेद बता उसका नाम निक्षेप लिखिए?

उत्तर : उसे बताने वाली वह गाथा इसप्रकार है—

णामं ठवणा दवियं, भावोत्ति चउव्विहं हवे कम्मं।
पयडी पावं कम्मं, मलंति सण्णा हु णाममलं।।५२।।
नाम स्थापना द्रव्य तथा, है भाव चार विध कर्म कहा।
प्रकृति पाप कर्म मल आदि, कर्म नाममल की संज्ञा।।५२।।

शब्दश: अर्थ : **णामं**=नाम, **ठवणा**=स्थापना, **दवियं**=द्रव्य, **भावो**=भाव, **त्ति**=इसप्रकार, **चउव्विहं**=चार प्रकार का, **हवे**=है, **कम्मं**=कर्म, **पयडी**=प्रकृति, **पावं**=पाप, **कम्मं**=कर्म, **मलं**=मल, **ति**=ये, **सण्णा**=

नाम, **हु**=वास्तव में, **णाममलं**=नाममल/कर्म संबंधी नाम निक्षेप।।५२।।
अन्वय : कम्मं णामं ठवणा दवियं भावोत्ति चउव्विहं हवे हु पयडी पावं कम्मं मलंति सण्णा णाममलं।
सरलार्थ : नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से कर्म चार प्रकार का है। प्रकृति, पाप, कर्म और मल—ये नाम, कर्म संबंधी नाम निक्षेप हैं।
स्पष्टीकरण : निक्षेप की अपेक्षा कर्म के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—ये चार भेद हैं। किसी भी वस्तु का 'कर्म' नाम रखना, कर्म संबंधी नाम निक्षेप है। प्रकृति, पाप, मल इत्यादि कर्म शब्द के पर्यायवाची/नामांतर हैं।
प्रश्न ७५ : कर्म संबंधी नाम निक्षेप को समझने से क्या लाभ है ?
उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—
*१.*कर्म का एक नाम पाप है—यह समझ में आ जाने पर कर्म में अच्छे-बुरे का भेद करने की वृत्ति नष्ट हो जाती है। जिससे आस्रव, बंध, पुण्य, पाप तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यताएं नष्ट हो जाती हैं।
*२.*कर्म का एक नाम मल भी है। मल को छूना तो दूर ही रहो, देखना भी हमें अच्छा नहीं लगता है। कर्म का नाम मल रखकर आचार्यदेव उनके प्रति अशुचिता, अपवित्रता, हेयता का भाव जागृत करना चाहते हैं—यह समझ में आ जाने पर उनकी ओर की आसक्ति नष्ट हो जाती है।
*३.*इस प्रकरण से देव, शास्त्र, गुरु के भी सम्यक् स्वरूप का निर्णय होता है। जिससे गृहीत मिथ्यात्व का अभाव हो सम्यक् रत्नत्रय की प्रगटता-हेतु विशिष्ट-पात्रता जागृत होती है।
*४.*इसी जानकारी के बल पर समस्त कर्म-कृत भावों से स्वयं को सदैव अति भिन्न मानने का परिणाम जागृत होता है। जिससे अंतरोन्मुखी पुरुषार्थ पूर्वक स्वरूप-लीनता होने पर जीवन सम्यक् रत्नत्रय-संपन्न अतींद्रिय आनंदमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।
प्रश्न ७६ : कर्म संबंधी स्थापना निक्षेप को स्पष्ट कीजिए?
उत्तर : उसे स्पष्ट करने वाली वह गाथा इसप्रकार है—

सरिसासरिसे दव्वे, मदिणा जीवट्ठियं खु जं कम्मं।
तं एदंति पदिट्ठा, ठवणा तं ठावणा-कम्मं।।५३।।
जीव में रहे कर्मों की, सुप्रतिष्ठा करना बुद्धि से।
समान या असमान द्रव्य में कहें स्थापना कर्म उसे।।५३।।
शब्दश: अर्थ : **सरिस+असरिसे**=समान-असमान, **दव्वे**=द्रव्य में, **मदिणा**=बुद्धि से, **जीवट्ठियं**=जीव के साथ स्थित, **खु**=वास्तव में, **जं**=जो, **कम्मं**=कर्म, **तं**=वे, **एदं**=ये, **ति**=ऐसी, **पदिट्ठा**=प्रतिष्ठा, **ठवणा**=स्थापना, **तं**=वह, **ठावणा कम्मं**=स्थापना कर्म।।५३।।
अन्वय : खु जीवट्ठियं जं कम्मं सरिसे दव्वे असरिसे दव्वे मदिणा तं एदंति पदिट्ठा ठवणा तं ठावणाकम्मं।
सरलार्थ : किसी समान या असमान द्रव्य में अपनी बुद्धि से ऐसी प्रतिष्ठा करना कि जो वास्तव में जीव के साथ स्थित कर्म हैं, वे ये हैं—यह स्थापना, कर्म संबंधी स्थापना निक्षेप है।
स्पष्टीकरण : जिस पदार्थ में हम स्थापना कर रहे हैं वह पदार्थ यदि, जिसकी हम स्थापना कर रहे हैं उस पदार्थ के समान है/उस जैसा है/तदाकार है, तो वह स्थापना, सदृश/तदाकार स्थापना कहलाती है। जैसे—परम शांत, वीतराग छवि-सम्पन्न पत्थर आदि की मूर्ति में वीतरागी भगवान की स्थापना करना, आदि।

इससे भिन्न, जिस पदार्थ में हम स्थापना कर रहे हैं वह पदार्थ यदि, जिसकी हम स्थापना कर रहे हैं उस पदार्थ के समान नहीं है/उस जैसा नहीं है/अतदाकार है, तो वह स्थापना, असदृश/अतदाकार स्थापना है।

यहाँ इन दोनों को कर्म पर घटित किया है—

ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म पौद्गलिक होने पर भी अत्यंत सूक्ष्मरूप से परिणमित होने के कारण हमारे इंद्रिय-गम्य नहीं है; मोह, राग, द्वेषादि भाव-कर्म भी अपने अमूर्तिक आत्मा के परिणाम होने से अपने अनुभव-गम्य होने पर भी इंद्रिय-गम्य नहीं हैं; तथापि इन दोनों का निमित्त-नैमित्तिक संबंध शरीरादि नोकर्म के साथ होने से उन पर अपनी बुद्धि से द्रव्य-कर्म या भाव-कर्म का आरोप करना, कर्म संबंधी सदृश या तदाकार स्थापना निक्षेप है। जैसे—मनुष्य शरीर

को देखकर, उसे मनुष्य भववाला कहना, शरीर की क्रोधाकृति देखकर क्रोधी कहना इत्यादि।

जो पदार्थ कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध रूप तो नहीं हैं; तथापि समझने-समझाने के लिए अपनी बुद्धि से उन पर कर्म का आरोप करना, कर्म संबंधी असदृश/अतदाकार स्थापना निक्षेप है। जैसे—समझने-समझाने के लिए थर्मामीटर या स्तम्भ/खम्भे का उदाहरण देकर कर्म बताना; कर्म संबंधी नाटक आदि मंच पर मंचित करने के लिए किसी व्यक्ति द्वारा कर्म का पाठ किया जाना इत्यादि।

इसप्रकार कर्म संबंधी स्थापना निक्षेप के दो भेद हैं—सदृश और असदृश।

प्रश्न ७७ : इस प्रकरण को समझने से होनेवाले कुछ लाभ लिखिए?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

*१.*सदृश स्थापना निक्षेप के माध्यम से हमें अपने परिणामों का ज्ञान होता है; आत्म-निरीक्षण करने का अवसर प्राप्त होता है।

*२.*कोई भी विकारी भाव करते समय हमारा ध्यान उसके फल की ओर नहीं जाता है; परन्तु जब उसका निमित्त पाकर बँधे हुए कर्म उदय में आते हैं, तदनुसार कोई विशिष्ट परिस्थिति बनती है, तब उस परिणाम का फल हमें समझ में आता है। अज्ञानता-वश पूर्व में तो जो हो गया है, वह तो हो ही गया है; अब वैसा विकारीभाव/अपराध न हो—इस दिशा में बुद्धि पूर्वक सावधान रह सकते हैं। भूतकाल को यादकर वर्तमान बिगाड़ना, बुद्धिमानी नहीं है; इसीप्रकार भविष्य के लिए चिंतित रहकर भी वर्तमान को बिगाड़ना, चतुराई नहीं है। भूत को विस्मृत कर भविष्य को भवितव्य के अधीन छोड़कर, वर्तमान को सँभालने से भविष्य अपने आप सँभल जाता है/मंगलमय हो जाता है।

जैनधर्म में प्रायश्चित्त के लिए तो पूरा-पूरा अवसर है; परन्तु आर्त-ध्यान होने के कारण पश्चाताप के लिए कोई अवसर नहीं है; अत: इससे बचने का सतत पुरुषार्थ करना चाहिए।

*३.*दुनिया हमारे व्यक्तित्व को शरीरादि नोकर्मों के माध्यम से देखती है। यदि उसके मन में हमारे प्रति कोई आदर-सम्मान या श्रद्धा का भाव जागृत हुआ है; तो उसे स्थिर रखने, उस पद की गरिमा बनाए

रखने के लिए अपनी सद्प्रवृत्तिओं को बड़ावा देना चाहिए। इससे विपरीत यदि किसी की दुष्प्रवृत्तिओं को देखकर दुनिया उसके प्रति अपमान, घृणा आदि का भाव रखती है; तो उसे शीघ्रातिशीघ्र उस दुष्प्रवृत्ति को छोड़ने की दिशा में प्रयास करना चाहिए।

इसप्रकार कर्म संबंधी सदृश स्थापना निक्षेप के बल पर सद्प्रवृत्तिओं का प्रचार-प्रसार तथा दुष्प्रवृत्तिओं का समापन होता है।

*४.*सच्चे देव, गुरु, धर्मात्मा, ज्ञानी, देशव्रती, महाव्रती जीवों की जानकारी; इस कर्म संबंधी सदृश स्थापना निक्षेप से हो जाती है।

*५.*जीव के परिणामों का और शरीरादि बाह्य प्रवृत्तिओं का घनिष्ठतम निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से यद्यपि पाप, पुण्य या धर्म रूप परिणामों की पहिचान शरीरादि बाह्य प्रवृत्तिओं से होती है; तथापि वे जीव से भिन्न, पूर्णतया पौद्गलिक जड़तामय होने के कारण उनसे पाप, पुण्य या धर्म का कुछ भी संबंध नहीं है; अत: उनसे सतत भेद-विज्ञान करते हुए अंतरोन्मुखी पुरुषार्थ पूर्वक स्वरूप-स्थिरता की प्रेरणा, इस प्रकरण से प्राप्त होती है।

*६.*कर्म संबंधी असदृश स्थापना निक्षेप से कर्म प्रकरण समझने-समझाने में सुविधा होती है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ७८ : द्रव्य निक्षेप और उसके पहले भेद का स्वरूप लिखिए?

उत्तर : उसे बताने वाली वह गाथा इसप्रकार है—

दव्वे कम्मं दुविहं, आगमणोआगमंति तप्पढमं।
कम्मागमपरिजाणग-जीवो उवजोगपरिहीणो।।५४।।

द्रव्यकर्म आगम नो आगम, दुविध कहा कर्मागम का।
परिज्ञायक उपयोग रहित आतम आगम द्रव्यकर्म कहा।।५४।।

शब्दश: अर्थ : **दव्वे**=द्रव्य संबंधी, **कम्मं**=कर्म, **दुविहं**=दो प्रकार का, **आगमणोआगमं**=आगम-नोआगम, **ति**=इसप्रकार, **तप्पढमं**= उसमें से पहला, **कम्मागमपरिजाणग-जीवो**=कर्म संबंधी आगम को जाननेवाला जीव, **उवजोग-परिहीणो**= उपयोग से रहित।।५४।।

अन्वय : आगम णोआगमं ति दव्वे कम्मं दुविहं तत् कम्मागमपरिजाणग उवजोगपरिहीणो जीवो पढमं।

सरलार्थ : कर्म संबंधी द्रव्य निक्षेप के दो भेद हैं—आगम और नो आगम द्रव्य निक्षेप। कर्म संबंधी आगम का जानकार; परन्तु अभी उपयोग से रहित जीव, कर्म संबंधी आगम द्रव्य निक्षेप है।
स्पष्टीकरण : कर्म संबंधी आगम को जानने वाले जीव, उनके शरीर तथा उनके साथ संबंधित अन्य संयोगों के साथ कर्म व्यवहार करना, कर्म संबंधी द्रव्य निक्षेप है। इसके दो भेद हैं—आगम द्रव्य निक्षेप और नो आगम द्रव्य निक्षेप।
कर्म संबंधी आगम द्रव्य निक्षेप : जिन-आगमों/जैन-शास्त्रों में कर्मों का वर्णन है, उन शास्त्रों का जो जीव जानकार है; अभी उस ओर उसका उपयोग नहीं है, उस पर कर्म का व्यवहार करना, कर्म संबंधी आगम-द्रव्य निक्षेप है।

वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी तीर्थंकर भगवान, आप्त कहलाते हैं। "**आप्तवचनादिनिबंधनमर्थज्ञानमागम:—** (परीक्षामुख, तृतीय समुद्देश, सूत्र ९५)—आप्त के वचन आदि हैं कारण जिसमें, ऐसा अर्थ का ज्ञान, आगम है।" इस आगम ज्ञान में निमित्त होने से जिनेन्द्र भगवान के वचनों/जिनवाणी को तथा तदनुसार लिपिबद्ध शास्त्रों को भी आगम कहा जाता है। कर्म संबंधी आगम का जानकार अर्थात् उसके वाच्य/प्रयोजन/उद्देश्य/तात्पर्य का जानकार; परन्तु अभी उपयोग से रहित जीव, कर्म संबंधी आगम द्रव्य निक्षेप कहलाता है।

कर्म संबंधी आगम के मुख्यतया निम्नलिखित प्रयोजन हैं—
१.थर्मामीटर के समान; अपने अपराधों का यथार्थ ज्ञान कराना।
२.बननेवाली विविध परिस्थितिओं के वास्तविक निमित्त का ज्ञान कराकर, दिखाई देनेवाले संयोगों के प्रति अकारण होनेवाले राग-द्वेष से बचाना।
३.पारस्परिक पूर्ण स्वतंत्रता, अकर्तृत्व सुरक्षित रखते हुए भी सहज बनने वाले घनिष्ठतम निमित्त-नैमित्तिक संबंध का बोध कराना।
४.जड़ पुद्गल की भी सुव्यवस्थित कार्य-प्रणाली का ज्ञान कराना।
५.सर्वज्ञ तथा सर्वज्ञ-स्वभाव की महिमा जागृत कराना।
६.क्षायोपशमिक ज्ञान, शक्ति तथा समय अधिक होने पर उन्हें तीव्र

विषय-कषाय-वर्धक कार्यों से हटाने के लिए नया-नया प्रमेय देना।
७.जीव की अनादि-अनंतता के साथ ही प्रति-क्षण परिवर्तित पर्यायों का यथार्थ बोध कराके तत्त्व-ज्ञान को निर्मल बनाना।
८.कर्माधीन सम्पूर्ण परिस्थितिओं से भेद-ज्ञान कराना।

इत्यादि अनेकानेक प्रयोजन सिद्ध करने के लिए कर्मागम है।

इन्हें यथार्थ समझनेवाला जीव ही कर्म संबंधी आगम का जानकार है।
प्रश्न ७९ : इस प्रकरण को समझने से क्या लाभ है ?
उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—
१.इससे जीव के त्रिकाल ज्ञान-स्वभावी होने की सिद्धि होती है; जो कि जीव को पहिचानने के लिए अति आवश्यक है।
२.लब्धि और उपयोग के भेद छद्मस्थ ज्ञान में होने के कारण संस्कार भी इस छद्मस्थ ज्ञान में ही सुरक्षित रहते हैं; अत: बुद्धि पूर्वक अकार्य-कारी, अधो-पतन-कारक ज्ञान को भूलने तथा कार्य-कारी, उन्नति-कारक ज्ञान को पुन:-पुन: याद रखने/उपयोगात्मक करने की प्रेरणा इस प्रकरण को समझने से मिलती है।
३.ये सभी कर्माधीन स्थितिआँ होने से, इन्हें अपना नहीं मानते हुए, इनके प्रति सतत भेद-ज्ञान के बल पर परत्व-बुद्धि रखने की प्रेरणा इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होती है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।
प्रश्न ८० : गाथा ५५-५६ के आधार से कर्म संबंधी नो आगम द्रव्य निक्षेप तथा च्युत भूत ज्ञायक शरीर को स्पष्ट कीजिए?
उत्तर : उन्हें बताने वाली वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

जाणगसरीर भवियं, तव्वदिरित्तं तु होदि जं विदियं।
तत्थ सरीरं तिविहं, तियकालगयं ति दो सुगमा।।५५।।
भूदं तु चुदं चइदं, चदंति तेधा चुदं सपाकेण।
पडिदं कदली-घादपरिच्चागे -णूणयं होदि।।५६।।

ज्ञायक शरीर भावी तद्व्यतिरिक्त भेद हैं नो आगम।
तीनकालगत त्रिविध भेद हैं ज्ञायक तन दो कहें सुगम।।५५।।
च्युत च्यावित अरु त्यक्त भेद से भूत शरीर कहा त्रेधा।
कदलीघात समाधिहीन वह, च्युत आयु क्षय से पड़ता।।५६।।

शब्दश: अर्थ : **जाणगसरीर**=ज्ञायक शरीर, **भवियं**=भावी, **तव्वदिरित्तं**=तद्व्यतिरिक्त, **तु**=वास्तव में, **होदि**=होता है, **जं**=जो, **विदियं**=दूसरा, **तत्थ**=उनमें से, **सरीरं**=ज्ञायक शरीर, **तिविहं**=तीन प्रकार का है, **तियकालगयं**=तीन कालगत/तीन काल संबंधी, **ति**=इसप्रकार, **दो**=दो, **सुगमा**=सुगम/सरल।५५।।

भूदं=भूत, **तु**=वास्तव में, **चुदं**=च्युत, **चइदं**=च्यावित, **चदं**=त्यक्त, **ति**=इसप्रकार, **तेधा**=तीन प्रकार, **चुदं**=च्युत, **सपाकेण**=अपने पाक से, **पडिदं**=गिरा हुआ, **कदलीघाद-परिच्चागेण**=कदली घात-परित्याग से, **ऊणयं**=रहित, **होदि**=होता है।।५६।।

अन्वय : जं बिदियं तु जाणगसरीर भवियं तव्वदिरित्तं होदि तत्थ जाणुगसरीर तियकालगयं ति तिविहं दो सुगमा।

तु भूदं चुदं चइदं चदंति तेधा कदलीघाद ऊणयं परिच्चागेण ऊणयं सपाकेण पडिदं चुदं होदि।

सरलार्थ : कर्म संबंधी द्रव्य निक्षेप का दूसरा भेद नो आगम, तीन प्रकार का है—ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त। उनमें से ज्ञायक शरीर, तीन काल की अपेक्षा तीन प्रकार का है—भूत, वर्तमान और भविष्य संबंधी ज्ञायक शरीर। इनमें से वर्तमान और भविष्य संबंधी—ये दो ज्ञायक शरीर, सुगम हैं।

भूत ज्ञायक शरीर, तीन प्रकार का है—च्युत, च्यावित और त्यक्त। कदलीघात और परित्याग से रहित, मात्र स्वपाक से/तत्संबंधी आयुष्क कर्म की समाप्ति से छूटनेवाला शरीर, च्युत शरीर है।

स्पष्टीकरण : कर्मसंबंधी आगम द्रव्य निक्षेप रूप जीव को छोड़कर शेष समस्त सामग्री, कर्म संबंधी नो आगम द्रव्य निक्षेप कहलाती है। इसके तीन भेद हैं—ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त।

कर्मसंबंधी आगम का जानकार, परन्तु वर्तमान में उपयोग से रहित जीव का शरीर, कर्म संबंधी ज्ञायक शरीर नो आगम द्रव्य निक्षेप कहलाता है। इसके भी तीन काल की अपेक्षा तीन भेद हैं—भूत, वर्तमान और भावी। कर्म संबंधी आगम द्रव्य जीव, अभी वर्तमान में जिस शरीर में रह रहा है, वह वर्तमान ज्ञायक शरीर है तथा आगे जिस शरीर में रहेगा, वह कर्म संबंधी भावी ज्ञायक शरीर नो आगम द्रव्य

निक्षेप है।

कर्म संबंधी आगम जीव पहले जिस शरीर में रहता था, वह कर्म संबंधी भूत ज्ञायक शरीर नो आगम द्रव्य निक्षेप है। इसके भी शरीर छूटने की प्रक्रिया की अपेक्षा तीन भेद हैं—च्युत, च्यावित और त्यक्त।

कदलीघात और परित्याग से रहित, मात्र तत्संबंधी आयुष्क कर्म की समाप्ति के कारण आगम जीव का छूटा हुआ शरीर, कर्म संबंधी च्युत भूत ज्ञायक शरीर नो आगम द्रव्य निक्षेप कहलाता है।

कदलीघात और परित्याग की चर्चा आगामी गाथाओं के संदर्भ में होगी ही; अत: यहाँ नहीं कर रहे हैं।

प्रश्न ८१ : इस प्रकरण को समझने से क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होने वाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं–

१.जीव, अमूर्तिक होने से इंद्रिय-गम्य नहीं है तथा शरीर, जड़ होने से पूज्य-अपूज्य नहीं है; तथापि जिस शरीर में वह सद्गुणी या अवगुणी जीव रहता है, उस शरीर को ही सद्गुणी या अवगुणी मानकर उस शरीर के साथ पूज्यता या अपूज्यता का व्यवहार करके; 'यह मैंने जीव के साथ ही किया है'—ऐसा माना जाता है। इसप्रकार इस नो आगम द्रव्य निक्षेप से ही समस्त लौकिक तथा धार्मिक पूज्यता-अपूज्यता का व्यवहार चल रहा है।

२.इसी के आधार पर हम जिन गुणों को विकसित करना चाहते हैं; उन गुणों से सम्पन्न जीव के छूटे हुए शरीर के प्रति भी आदर-बहुमान का भाव व्यक्त करते हैं तथा जिन अवगुणों को नष्ट करना चाहते हैं, उन अवगुणों-युक्त जीव के छूटे हुए शरीर के प्रति निरादर, असम्मान का भाव व्यक्त करते हैं; जिससे लोक में सद्गुणों की प्रवृत्ति, बड़ती है तथा अवगुणों की प्रवृत्ति, ह्रास को प्राप्त होती है।

३.तीर्थ-यात्रा तथा प्रतिमा आदि की पूजन इत्यादि इसी निक्षेप से आगम में मान्य हैं। इस निक्षेप को अस्वीकार करने पर ये व्यवहार संभव नहीं हो सकेंगे।

४.भक्ष्य-अभक्ष्य के विवेक तथा हिंसादि पापों में हीनाधिकता का आधार, यह नो आगम द्रव्य निक्षेप ही है। इसीप्रकार शुभ भावों में निमित्तभूत सद्देव-गुरु की पहिचान का बाह्य आधार, यह नो आगम

द्रव्य निक्षेप ही है।

५.शरीर तो नियम से छूटना ही है। यदि हम उससे भेद-विज्ञान कर, उसका उपयोग आत्म-कल्याण-कारी कार्यों में करते हैं तो आत्मोन्नति तो होती ही है, शरीर भी सम्माननीय हो जाता है—इसप्रकार प्राप्त शरीर का सदुपयोग करने की भावना इस प्रकरण से पुष्ट होती है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ८२ : ५७ से ६१ पर्यंत ५ गाथाओं के माध्यम से कदलीघात मरण को बता भेद-प्रभेद सहित त्यक्त भूत ज्ञायक शरीर समझाइए?

उत्तर : उन्हें बताने वाली वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

विस-वेयण-रत्तक्खय-भय-सत्थग्गहण-संकिलेसेहिं।
उस्सासाहाराणं, णिरोहदो छिज्जदे आऊ।।५७।।
कदली-घाद-समेदं, चाग-विहीणं तु चइद-मिदि होदि।
घादेण अघादेण व, पडिदं चागेण चत्त-मिदि।।५८।।
भत्त-पइण्णा-इंगिणि-पाउग्ग-विधीहिं चत्त-मिदि तिविहं।
भत्त-पइण्णा-तिविहा, जहण्ण-मज्झिम-वरा य तहा।।५९।।
भत्त-पइण्णाइ-विहि, जहण्ण-मंतोमुहुत्तयं होदि।
बारस-वरिसा-जेट्ठा, तम्मज्झे होदि मज्झिमया।।६०।।
अप्पोवयार-वेक्खं, परोवयारू ण-मिंगिणीमरणं।
सपरोवयार-हीणं, मरणं पाओवगम ण-मिदि।।६१।।

विष वेदना रक्त का क्षय, भय शस्त्रग्रहण संक्लेशों से।
श्वास और भोजन निरोध आयु छिदती इत्यादि से।।५७।।
कदलीघात-सहित पर त्याग-रहित तन क्षय च्यावित जानो।
कदलीघात-अघात-सहित पर त्याग-सहित को त्यक्त कहो।।५८।।
भक्तप्रतिज्ञा इंगिनि प्रायोपगमन विधि से त्यक्त त्रिधा।
जघन्य मध्यम उत्तम है, है भक्त प्रतिज्ञा भी त्रिविधा।।५९।।
जघन्य भक्त प्रतिज्ञा की, सीमा अंतर्मुहूर्त जानो।
उत्तम बारह वर्ष की सीमा, मध्य समय मध्यम मानो।।६०।।
स्वयं करे उपकार स्वयं का, पर परकृत उपकार-रहित।
इंगिनि प्रायोपगमन विधि है, स्व-पर कृत उपकार-रहित।।६१।।

शब्दश: अर्थ : **विस**=विष-सेवन, **वेयण**=वेदना, **रत्तक्खय**=रक्त-

क्षय, **भय**=भय, **सत्थग्गहण**=शस्त्र-घात, **संकिलेसेहिं**=संक्लेश परिणामों से, **उस्सास-आहाराणं**=उच्छ्वास और आहारादि के, **णिरोहदो**=निरोध से, **छिज्जदे**=छिद जाती है, **आऊ**= आयु।।५७।।

कदलीघादसमेदं= कदलीघात से सहित, **चागविहीणं**=त्याग से रहित, **तु**=वास्तव में, **चइदं**=च्यावित, **इदि**=ऐसा, **होदि**=होता है, **घादेण**=घात से, **अघादेण**=अघात से, **व**=अथवा, **पडिदं**=छूटा हुआ, **चागेण**=त्याग पूर्वक, **चत्तं**=त्यक्त, **इदि**=ऐसा।।५८।।

भत्तपइण्णा=भक्त-प्रतिज्ञा, **इंगिणि**=इंगिनी, **पाउग्गविधीहिं**= प्रायोग्य/प्रायोपगमन विधि की अपेक्षा, **चत्तं**=त्यक्त, **इदि**=इसप्रकार, **तिविहं**=तीन प्रकार का, **भत्तपइण्णा**=भक्त-प्रतिज्ञा, **तिविहा**=तीन प्रकार का, **जहण्ण**=जघन्य, **मज्झिम**=मध्यम, **वरा**=उत्कृष्ट, **य**=और, **तहा**=उसीप्रकार।।५९।।

भत्तपइण्णाइ=भक्त-प्रतिज्ञा आदि की, **विहि**=विधि, **जहण्णं**= जघन्य, **अंतोमुहुत्तयं**=अंतर्मुहूर्त, **होदि**=होती है, **बारसवरिसा**=बारह वर्ष की, **जेट्ठा**=ज्येष्ठ/उत्कृष्ट, **तम्मज्झे**=उनके मध्य के, **होदि**=होते हैं, **मज्झिमया**=मध्यम भेद।।६०।।

अप्प+उवयारवेक्खं=स्वयं-कृत उपकार की अपेक्षा रखते हुए, **पर+उवयार+ऊणं**=पर-कृत उपकार से रहित, **इंगिणीमरणं**= इंगिनीमरण, **स+पर+उवयारहीणं**=स्व-पर-कृत उपकार से रहित, **मरणं**=मरण, **पाओवगमणं**=प्रायोपगमन, **इदि**=इसप्रकार।।६१।।

अन्वय : विस-वेयण-रत्तक्खय-भय-सत्थग्गहण-संकिलेसेहिं उस्सासणिरोहदो आहाराणं णिरोहदो आऊ छिज्जदे।

कदलीघादसमेदं तु चागविहीणं चइदं इदि होदि घादेण व अघादेण चागेण पडिदं चत्तं इदि।

चत्तं भत्तपइण्णा इंगिणि पाउग्गविधीहिं इदि तिविहं तहा भत्तपइण्णा जहण्ण मज्झिम य वरा तिविहा।

भत्तपइण्णाइ जहण्णं अंतोमुहुत्तयं जेट्ठा वारसवरिसा विहि होदि तम्मज्झे मज्झिमया होदि।

अप्प उवयारवेक्खं पर उवयार ऊणं इंगिणीमरणं स उवयार हीणं पर उवयार हीणं पाओवगमणं मरणं इदि।

सरलार्थ : विष-सेवन, वेदना, रक्त-क्षय, भय, शस्त्र-घात, संक्लेश-परिणाम इत्यादि के द्वारा उच्छ्वास रुक जाने से, भोजन का निरोध हो जाने से इत्यादि द्वारा आयु छिद जाती है।

त्याग से रहित, कदली-घात पूर्वक छूटा हुआ, आगम द्रव्य जीव का शरीर, कर्म संबंधी च्यावित भूत ज्ञायक नो आगम द्रव्य निक्षेप है। कदली-घात-सहित या कदली-घात-रहित अवस्था में त्यागपूर्वक छूटा हुआ आगम द्रव्य जीव का शरीर, कर्मसंबंधी त्यक्त भूत ज्ञायक नो आगम द्रव्य निक्षेप है।

त्यक्त शरीर के भक्त-प्रतिज्ञा, इंगिनी और प्रायोपगमन-विधि—ये तीन भेद हैं। भक्त-प्रतिज्ञा के भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन भेद हैं।

भक्त-प्रतिज्ञा आदि की विधि, जघन्य अंतर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट बारह वर्ष की है तथा इन दोनों कालों के मध्य के सभी भेद मध्यम हैं।

अपने हाथ आदि अंगों से किए जाने-योग्य उपकार से सहित तथा अन्य-कृत उपकार से रहित हो शरीर का छूटना, इंगिनी-मरण है। स्व और पर—दोनों द्वारा किए गए उपकार से रहित हो शरीर का छूटना, प्रायोपगमन-मरण है।

स्पष्टीकरण : कदलीघात=केले की जड़ के समान आयुष्क का घात होना, कदली-घात है। केले के वृक्ष की जड़, अन्य वृक्षों की जड़ के समान, जमीन के अन्दर शाखाओं-प्रशाखाओं में विभक्त नहीं होती है; वरन् एक पिण्ड के रूप में एकत्रित रहती है। यही कारण है कि उस पिण्ड का घात होते ही केले का वृक्ष सूख जाता है; इसीप्रकार अपवर्त आयुष्क वाले जीवों के आयुष्क कर्म में, विभिन्न अपकर्ष-कालों में बँधे पृथक्-पृथक् स्थितिवाले समय-प्रबद्ध एक साथ पिण्डरूप में विद्यमान रहते हैं तथा अंतर्बाह्य कारण की उपस्थिति में एक साथ उदय में आकर निर्जरित हो जाते हैं। इस स्थिति पूर्वक छूटे हुए शरीर को कदली-घात मरण कहते हैं।

इसे समझने के लिए आयुष्क कर्म के बंध की प्रक्रिया समझनी आवश्यक है। जो संक्षेप में इसप्रकार है—

आयुष्क कर्म को छोड़कर शेष ज्ञानावरणादि सात कर्मों का बंध

तो दशवें गुणस्थान पर्यंत सतत होता रहता है; परन्तु आयुष्क कर्म का बंध, भुज्यमान आयु के त्रिभाग-युक्त मात्र आठ अपकर्ष-कालों में अथवा अंतिम अंतर्मुहूर्त में लेश्या के आठ मध्यम अंशों की उपस्थिति में ही होता है। उत्तरोत्तर घटती-घटती/हीन होती हुई भुज्यमान आयु में यह काल/अवसर आने के कारण इसे अपकर्ष-काल कहते हैं। इसकी व्यवस्था भी गतिओं की अपेक्षा पृथक्-पृथक् है। वह इसप्रकार—

देव, नारकिओं के अपनी भुज्यमान आयु में से मात्र छह माह शेष रहने पर, छह माह के अंदर त्रिभाग में ये आठ अपकर्ष-काल आते हैं। उनमें से किसी एक अपकर्ष-काल में लेश्या के मध्यम अंश मिलने पर आगामी यथा-योग्य मनुष्य या तिर्यंच-भव की आयु बँध जाती है।

अस्थिर-स्थिर भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंचों के अपनी भुज्यमान आयु में से क्रमश: मात्र नौ-छह माह शेष रहने पर नौ-छह माह के अंदर त्रिभाग में आठ अपकर्ष-कालों में से किसी एक में लेश्या के मध्यम अंश मिलने पर आगामी देव-भव की आयु बँध जाती है।

कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंचों में अपनी भुज्यमान आयु के त्रिभागानुसार आठ अपकर्ष-कालों में लेश्या के मध्यम अंश मिलने पर परिणामों के अनुसार आगामी किसी भी भव की आयु बँध जाती है। जैसे—माना कि किसी कर्मभूमिज मनुष्य की आयु ६५६१ वर्ष है। इसका त्रिभाग २१८७ वर्ष हुआ। दो त्रिभाग अर्थात् ४३७४ वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद शेष रहे २१८७ वर्ष का पहला अंतर्मुहूर्त आगामी आयु के बंध का प्रथम अवसर अर्थात् पहला अपकर्ष-काल होगा। लेश्या के मध्यम ८ अंश मिलने पर इस समय आयु बँध सकती है। योग्यता के अभाव में यदि इस समय आयु नहीं बँधी तो पुन: २१८७ वर्ष के दो त्रिभाग बीत जाने पर शेष रहे ७२९ वर्ष का पहला अंतर्मुहूर्त, आगामी आयु-बंध का दूसरा अवसर/दूसरा अपकर्ष-काल होगा। योग्यता के अभाव में आयु-बंध नहीं होने पर ७२९ वर्ष के भी दो त्रिभाग बीत जाने पर शेष रहे २४३ वर्ष का पहला अंतर्मुहूर्त, आगामी आयु-बंध का तीसरा अवसर/तीसरा अपकर्ष-काल होगा।

इसी क्रमानुसार शेष रहे ८१ वर्ष का पहला अंतर्मुहूर्त, चौथा अपकर्ष-काल; २७ वर्ष का पहला अंतर्मुहूर्त, पाँचवाँ; ९ वर्ष का पहला अंतर्मुहूर्त, छठवाँ; ३ वर्ष का पहला अंतर्मुहूर्त, सातवाँ तथा एक वर्ष का पहला अंतर्मुहूर्त, आठवाँ अपकर्ष-काल होगा। इन आठ अपकर्ष-कालों में ही योग्यतानुसार आयु का बंध होता है, अन्य समयों में नहीं; परन्तु इन आठ अवसरों में आयु-बंध होगा ही होगा—ऐसा नियम नहीं है। इनमें आयु-बंध नहीं होने की स्थिति में चरम-शरीरी/तद्भव-मोक्ष-गामी जीवों को छोड़कर शेष जीवों के भुज्यमान आयु संबंधी अंतिम आवली के असंख्यातवें भाग अथवा एक समय कम अंतिम अंतर्मुहूर्त प्रमाण काल में पर-भव की आयु का बंध नियम से हो जाता है।

कर्मभूमिज मनुष्य-तिर्यंचों में किन्हीं के आठों बार, किन्हीं के सात बार, किन्हीं के छह बार इत्यादि रूप में एक से अधिक अवसरों पर अंतर्बाह्य कारणों की उपस्थिति में आयु-बंध हो जाता है। ऐसी स्थिति में आयु तो एक ही बँधती है; परन्तु उसकी स्थिति आदि में विविधता भी हो सकती है; अर्थात् आयुष्क कर्म का प्रकृति-प्रदेश बंध तो आठों बार एक-सा ही रहता है; स्थिति और अनुभाग बंध में विविधता हो सकती है। विविधता की स्थिति में अधिक स्थिति-अनुभाग-युक्त आयुवाले समय-प्रबद्धों के साथ अन्य हीन स्थिति आदि वाले समयप्रबद्ध सत्ता में विद्यमान रहते हैं। अंतिम अंतर्मुहूर्त संबंधी लेश्या के मध्यम अंशों की निमित्तता में बँधा स्थिति-बंध प्रधान हो जाता है। इन सभी का आबाधा-काल आयु-बंध के समय शेष रही भुज्यमान आयु की स्थिति-प्रमाण होता है।

भुज्यमान आयु की समाप्ति होते ही बद्धमान इस प्रधान आयु के उदय में आने पर अन्य अवसरों में बँधे हीन स्थितिवाले समय-प्रबद्ध भी उसी के साथ अपने-अपने निषेक-रचना-क्रम से उदय में आ-आकर खिरते रहते हैं। इसप्रकार क्रमश: खिरते-खिरते प्रधान आयु के अंतिम अंतर्मुहूर्त में शेष रहे सभी समय-प्रबद्ध, एक साथ उदय में आकर खिर जाते हैं। केले की जड़ के समान एक साथ समूहरूप में नष्ट हो जाने से इस स्थिति में हुए देहावसान को कदली-घात-मरण

कहते हैं। इसमें मूल निमित्त तो आयुष्क कर्म का क्षय ही है। बाह्य निमित्त गाथा ५७ में बताए गए अथवा और भी कुछ हो सकते हैं। इसे अन्यत्र अकाल-मरण भी कहा जाता है।

अकाल-मरण होता है कि नहीं ? इसे मानना कि नहीं मानना? इस संबंध में वाद-विवाद करने की अपेक्षा; दोनों कथनों की अपेक्षा समझकर मध्यस्थ हो जाना, आत्मार्थी जीव की वृत्ति है।

कदली-घात-मरण/अकाल-मरण होता है या नहीं—इस तथ्य को स्पष्ट करनेवाली कुछ अपेक्षाएं निम्नलिखित हैं—

१.प्रत्येक कार्य स्वभाव, पुरुषार्थ, काललब्धि, भवितव्य/नियति और निमित्त रूप पाँच समवायों की उपस्थिति में होने पर भी इन पाँचों को दो पदों में कहने की संक्षिप्त-पद्धति जिनागम में उपलब्ध है। जैसे—इन पाँचों को स्वभाव की मुख्यता से देखने पर ये पाँच, स्वभाव और अस्वभाव पद में गर्भित हो जाते हैं—स्वभाव पद में स्वभाव तथा अस्वभाव पद में पुरुषार्थ, काललब्धि, भवितव्य और निमित्त।

पुरुषार्थ की मुख्यता से ये पाँचों, पुरुषार्थ और अपुरुषार्थ/दैव में, काललब्धि की मुख्यता से काललब्धि/काल और अकाललब्धि/अकाल में, नियति की मुख्यता से नियति और अनियति में तथा निमित्त की मुख्यता से निमित्त/ईश्वर और अनिमित्त/अनीश्वर में गर्भित हो जाते हैं। आचार्य अमृतचंद्रस्वामी तो प्रवचनसार की तत्त्व-दीपिका टीका के परिशिष्ट में सैंतालीस नयों के अंतर्गत छब्बीस से पैंतीसवें नय पर्यंत इन्हीं पाँच समवाय संबंधी नयों की चर्चा करते हुए, अनंत धर्मात्मक द्रव्य में तत्-तत् संबंधी एक धर्म/योग्यता भी निरूपित करते हैं। जो मूलत: पठनीय-मननीय है। इस अपेक्षा विचार करने पर पाँचों समवायों की उपस्थिति में होनेवाले कार्य को ही मुख्य-गौण व्यवस्था से काल-अकाल में हुआ कह सकते हैं।

मरण भी एक कार्य होने से यद्यपि वह भी पाँचों समवायों की उपस्थिति में हुआ है; तथापि इसे ही काल-लब्धि की मुख्यता से काल-मरण कह सकते हैं तथा काल-लब्धि को गौण कर शेष

चार––स्वभाव, पुरुषार्थ, भवितव्य और निमित्त की मुख्यता से अकाल–मरण कह सकते हैं।

२.जिन कर्मभूमिज मनुष्य–तिर्यंचों ने पूर्व कर्मभूमिज मनुष्य–तिर्यंच भव के दो आदि अपकर्ष–कालों में यदि पृथक्–पृथक् स्थिति आदि वाली वर्तमान मनुष्य या तिर्यंच आयु बाँधी होगी; उनके आयु की प्रधान स्थिति के अंतिम अंतर्मुहूर्त में सभी निषेक एक साथ खिर जाएंगे। उन अन्य निषेकों के खिरने का वास्तविक काल, यह काल नहीं होने के कारण इस स्थिति पूर्वक छूटे हुए शरीर को अकाल–मरण कहते हैं; तथा यह व्यवस्था वस्तु–स्वरूप में और सर्वज्ञ के ज्ञान में अनादि से ही सुनिश्चित होने के कारण तथा कर्म–बंध के अनुसार पिछले भव में आयु–बंध के समय ही सुनिश्चित हो जाने के कारण इसी मरण को काल–मरण भी कहते हैं।

३.प्राय: यह भोला मानव अपनी कल्पना से ही ऐसा मान लेता है कि मनुष्य देह पाया है तो सत्तर, अस्सी, नब्बै वर्ष पर्यंत तो टिकेगा ही। जब कभी किसी का कुछ कम उम्र में देहांत हो जाता है तो उसकी इस कल्पित मान्यता को ठेस पहुँचने के कारण, वह इसे अकाल–मरण कह देता है। इस मरण में भी वास्तविकता यह है कि देह का अंत, आयु के क्षय से ही हुआ है तथा आयु–क्षय का वह ही सुनिश्चित समय था; अत: यही मरण, काल–मरण भी है।

इसमें दूसरा तथ्य यह भी है कि कर्मभूमिज मनुष्य–तिर्यंच की जघन्य आयु अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व और मध्यम आयु इन दोनों के मध्यवर्ती सभी भेदवाली है; अत: यह भी सम्भव है कि जिसे यह भोला मानव, अकाल–मरण कह रहा है; वह पूर्ण निरोग बीस वर्षीय नव–युवक का देहांत, अपनी मूल आयु के क्षय से ही हुआ हो, कदली–घात नहीं हो अर्थात् पिछले भव में उसने मात्र एक अपकर्ष–काल में एक ही, बीस वर्ष की स्थितिवाली आयु बाँधी हो; अत: यह मरण, काल–मरण है।

इत्यादि प्रकार से विचार करने पर उस मरणरूप एक कार्य को ही विवक्षा–भेद से काल–मरण या अकाल–मरण कहा जाता है।

इसप्रकार अनंत–धर्मात्मक वस्तु–व्यवस्था का स्याद्वाद–शैली

से निर्णयकर अपनी मति–व्यवस्थित कर मध्यस्थ रहना ही आत्मार्थी जीव का कर्तव्य है।

प्रस्तुत प्रकरण के संदर्भ में कर्म संबंधी आगम द्रव्य जीव का, त्याग/समाधि के विना कदली–घात पूर्वक छूटा हुआ शरीर, च्यावित शरीर कहलाता है। इसका पूर्ण नाम, कर्म संबंधी च्यावित–भूत–ज्ञायक शरीर नो आगम द्रव्य निक्षेप है।

इसके बाद साड़े तीन गाथाओं के माध्यम से त्यक्त शरीर को स्पष्ट किया गया है। शरीर छूटने का प्रसंग उपस्थित होने पर, अपनी सम्यक् रत्नत्रयरूपी निधि को व्यवस्थित सुरक्षित रखते हुए, क्रम–क्रम से कषाय और काय/शरीर को कृश करते–करते समता–भाव पूर्वक कदली–घात–सहित या रहित स्थिति में छूटा हुआ शरीर, त्यक्त शरीर कहलाता है। इसका पूरा नाम, कर्म संबंधी त्यक्त–भूत–ज्ञायक शरीर नो आगम द्रव्य निक्षेप है।

त्यक्त/संन्यास के तीन भेद हैं—भक्त–प्रतिज्ञा/प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोग्य/प्रायोपगमन–विधि।

१.भक्त–प्रतिज्ञा : भोजन आदि के त्याग की प्रतिज्ञा को लेकर, समता–भाव पूर्वक छूटा शरीर, भक्त–प्रतिज्ञा त्यक्त शरीर है। इसके काल की अपेक्षा तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

जघन्य भक्त–प्रतिज्ञा—मात्र अंतर्मुहूर्त के लिए भोजनादि के त्याग पूर्वक समता भाव से छूटा शरीर, जघन्य भक्त–प्रतिज्ञा त्यक्त शरीर है।

मध्यम भक्त–प्रतिज्ञा—एक अंतर्मुहूर्त से अधिक और बारह वर्ष से कम के किसी भी काल पर्यंत क्रमश: भोजनादि के त्याग पूर्वक समता–भाव से छूटा शरीर, मध्यम भक्त–प्रतिज्ञा त्यक्त शरीर है।

उत्कृष्ट भक्त–प्रतिज्ञा—भोजनादि का क्रमश: त्याग करते–करते बारह वर्ष की पूर्णता पर समता–भाव पूर्वक छूटा हुआ शरीर, उत्कृष्ट भक्त–प्रतिज्ञा त्यक्त शरीर है।

२.इंगिनी : अन्य से अपने शरीर की कुछ भी सेवा–शुश्रूषा नहीं कराएंगे, आवश्यकतानुसार यथा–योग्य अपने ही हाथ आदि अंगों से अपने शरीर की सेवा–शुश्रूषा करेंगे—ऐसी प्रतिज्ञा लेकर, समता–भाव पूर्वक छूटा शरीर, इंगिनी त्यक्त शरीर कहलाता है।

३.प्रायोपगमन–विधि : अपने शरीर की सेवा–शुश्रूषा न तो अन्य से कराएंगे और न ही स्वयं करेंगे—ऐसी प्रतिज्ञा पूर्वक समता–भाव से शरीर का छूटना, प्रायोपगमन त्यक्त शरीर कहलाता है।

इसप्रकार यहाँ समाधि–मरण के तीन भेद बताए गए हैं। भगवती आराधना आदि ग्रंथों में पण्डित–पण्डित मरण आदि और भी अनेकानेक भेदों का वर्णन किया गया है। जिज्ञासु–जन उन्हें वहीं से जानने का प्रयास करें।

प्रश्न ८३ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.एक कार्य होने में अनेक कारण होते हैं। पाँच समवाय तो प्रमुख हैं ही; उसमें भी निमित्त के अंतरंग–बहिरंग, उदासीन–प्रेरक, नियामक–अनियामक इत्यादि अनेक भेद हैं। प्रत्येक कार्य के होने में अंतरंग–बहिरंग कारण रूप पाँच समवाय नियम से होते हैं। मुख्य–गौण, कथन में होता है; कार्य होते समय, कारणों में नहीं—यह समझ में आ जाने पर जिनवाणी के प्रत्येक कथन की अपेक्षा समझकर, दुराग्रही वृत्ति नष्ट कर, सहज समता–भावमय मध्यस्थ रहने का भाव जागृत होता है।

२. ''***मरणं प्रकृति: शरीरिणाम्***—शरीरधारिओं का मरण, स्वभाव है''—इस नियम के अनुसार शरीर तो प्रत्येक परिस्थिति में आयु की समाप्ति पर छूटेगा ही। उसे किसी भी कीमत पर स्थाई नहीं बनाया जा सकता है—यह समझ में आ जाने पर बनी हुई परिस्थिति के प्रति राग–द्वेष नहीं करते हुए, उसमें हस्तक्षेप करने के निरर्थक प्रयास नहीं करते हुए, उसे समता पूर्वक सहज स्वीकार करने का भाव जागृत होता है।

३.जब शरीर छूटना ही है तो क्यों न उसे समता पूर्वक अपनी निधि सुरक्षित रखते हुए छोड़ा जाए ? इस सम्यक् विचार के बल पर शरीरादि समस्त पर–पदार्थों से भेद–विज्ञान करते हुए अपने स्वभाव में स्थिर रहने का भाव जागृत होता है।

४.इसी विचार के बल पर भोजन, पानी, औषधि आदि से भी विरक्त होकर उनके भी यथा–योग्य त्याग पूर्वक समाधि धारण करने का भाव पुष्ट होता है।

५.तीव्र आकुलता के प्रसंग पर इसी विचार के बल से वैद्य, डॉक्टर, औषधि आदि की निरर्थक शरण में जाने का भाव नष्ट होकर, भेद–विज्ञान, वस्तु–स्वातंत्र्य को पुष्ट करने में कारणभूत सहधर्मी आदि की समीपता का भाव जागृत होता है।

६.इसी विचार पूर्वक अशरीरी दशा प्राप्त करने के लिए शरीर की विद्यमानता में ही अन्तरोन्मुखी भेद–विज्ञान के पुरुषार्थ पूर्वक आत्म–लीनता का प्रयास प्रारम्भ होता है। जिससे जीवन शुद्ध, सात्त्विक, सहज, सम्यक् रत्नत्रय–सम्पन्न अतींद्रिय आनंदमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ८४ : कर्म संबंधी भावी नो आगम द्रव्य निक्षेप को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उसे स्पष्ट करने वाली वह गाथा इसप्रकार है—

भवियंति भवियकाले, कम्मागमजाणगो स जो जीवो।
जाणुग–सरीर–भवियं, एवं होदित्ति णिद्दिट्ठं।।६२।।
भविष्य में जो होगा कर्मागम ज्ञायक वह जीव कहा।
द्रव्यकर्म ज्ञायक शरीर, भावी नो आगम भेद सदा।।६२।।

शब्दश: अर्थ : **भवियंति**=होगा, **भवियकाले**=भविष्य–काल में, **कम्मागम–जाणगो**=कर्म संबंधी आगम को जाननेवाला, **स**=वह, **जो**=जो, **जीवो**=जीव, **जाणुगसरीरभवियं**=ज्ञायक शरीर भावी, **एवं**=इसप्रकार, **होदि**=होता है, **त्ति**=इसप्रकार, **णिद्दिट्ठं**=कहा गया है।।६२।।

अन्वय : जो जीवो भवियकाले कम्मआगम जाणगो भवियंति स एवं जाणुगसरीरभवियं होदि त्ति णिद्दिट्ठं।

सरलार्थ : जो जीव आगे भविष्य–काल में कर्म संबंधी आगम का जानकार होगा, वह ज्ञायक शरीर भावी द्रव्य निक्षेप है—ऐसा कहा है।

स्पष्टीकरण : जो जीव भविष्य में कर्म संबंधी आगम का जानकार होगा, उसे उस आगामी योग्यता के बल पर कर्म संबंधी आगम का जानकार कहना, उसके साथ तथा उसके उस समय के शरीर के साथ तदनुसार व्यवहार करना, कर्म संबंधी भावी नो आगम द्रव्य निक्षेप है।

नो आगम द्रव्य निक्षेप के पहले भेद ज्ञायक शरीर के तीन भेदों

में से दूसरा भावी ज्ञायक शरीर तथा यह नो आगम द्रव्य निक्षेप का दूसरा भेद भावी—ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। इन दोनों में अंतर है। वह इसप्रकार—

भावी ज्ञायक शरीर में जीव अभी कर्म संबंधी आगम का जानकार है; परन्तु उपयोग से रहित है; यह जीव आगे जिस शरीर को प्राप्त करेगा, वह शरीर, कर्म संबंधी भावी ज्ञायक शरीर नो आगम द्रव्य निक्षेप है।

इससे भिन्न भावी नो आगम द्रव्य निक्षेप वाला जीव, अभी कर्म संबंधी आगम का जानकार नहीं है। लब्धि या उपयोग किसी भी रूप में अभी उसे कर्मों का ज्ञान नहीं है; परन्तु भविष्य में वह उसका जानकार होगा—ऐसी योग्यता अभी उसमें विद्यमान है। इस योग्यता के आधार पर उसके साथ किया गया जानकारी-सम्पन्नवत् व्यवहार, कर्मसंबंधी भावी नो आगम द्रव्य निक्षेप है।

एक वर्तमान में उस विषय का लब्धिरूप से जानकार है तथा दूसरा अभी मात्र द्रव्यगत योग्यतावाला है, आगे प्रगट पर्याय में भी उस विषय का जानकार होगा; शरीर, दोनों के भविष्य-कालीन ही हैं—यही इन दोनों में अंतर है।

प्रश्न ८५ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

*१.*यह प्रकरण भविष्य की सुनिश्चितता का उद्घोषक है—यह समझ में आ जाने से पर/पर्यायों का पूर्ण व्यवस्थित क्रम-नियमित परिणमन/क्रमबद्ध-पर्याय समझ में आ जाने से भविष्य संबंधी भय, चिंता, आकुलता, तनाव आदि से रहित हो जीवन निश्चिंत, निर्भार, निराकुल, आनंदमय हो जाता है।

*२.*द्रव्य की अनादि-अनंत एकरूप रहनेवाली सत्ता की सिद्धि भी इस प्रकरण से होती है। जिससे अनेकानेक एकांत मान्यताओं रूप गृहीत मिथ्यात्व से हम बच जाते हैं।

३.द्रव्य में उपादानगत क्षणिक योग्यता के बल पर अनंतर पूर्व-क्षणवर्ती पर्यायों की दीर्घ क्रम-शृंखला हमारे या अन्य के भविष्य का

हमें या अन्य को स्थूल ज्ञान कराने में सक्षम है। जिसके बल पर अच्छे संस्कारों को प्रोत्साहित तथा बुरे संस्कारों को हतोत्साहित कर निरर्थक कार्य संबंधी पाप की अनुमोदना से हम बच सकते हैं।

४.भविष्य-कालीन चौबीसी आदि की स्थापना आदि इसी निक्षेप के आधार से होती है; परन्तु साक्षात् उस जीव के साथ पूज्यता-अपूज्यता का व्यवहार वर्तमान परिणतिरूप भाव-निक्षेप के आधार से होता है—इस जानकारी के बल पर हम अनेकानेक गृहीत मिथ्यात्वों से बच जाते हैं।

५.इसी जानकारी के बल पर समस्त पर-पदार्थों और पर्यायों से भेद-विज्ञान कर अपनी अनादि-अनंत ज्ञानानंद-स्वभावी ध्रुव सत्ता को अपनत्वरूप से स्वीकार कर उसमें ही तन्मयता से अगृहीत मिथ्यात्व नष्ट होकर जीवन सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न अतींद्रिय आनंदमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ८६ : ६३ से ६६ पर्यंत ४ गाथाओं के आधार से तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप तथा भेद-सहित भाव-निक्षेप लिखिए?

उत्तर : उन्हें बताने वाली वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

तव्वदिरित्तं दुविहं, कम्मं णोकम्ममिदि तहिं कम्मं।
कम्म-सरूवेणागय-कम्मं दव्वं हवे णियमा।।६३।।
कम्मद्दव्वादण्णं, दव्वं णोकम्म-दव्वमिदि होदि।
भावे कम्मं दुविहं, आगम-णोआगमंति हवे।।६४।।
कम्मागम-परिजाणग-जीवो कम्मागमम्हि उवजुत्तो।
भावागम-कम्मोत्ति य, तस्स य सण्णा हवे णियमा।।६५।।
णोआगमभावो पुण, कम्म-फलं भुंजमाणगो जीवो।
इदि सामण्णं कम्मं, चउव्विहं होदि णियमेण।।६६।।

कर्म तथा नोकर्म नाम के तद्व्यतिरिक्त द्रव्य निक्षेप।
कर्म स्वरूप समागत कार्मण द्रव्य कर्म है पहला भेद।।६३।।
कर्म-द्रव्य से भिन्न द्रव्य, नोकर्म द्रव्यनिक्षेप कहा।
आगम नो आगम से जानो, भावकर्म को भी द्वेधा।।६४।।
कर्मागम परिज्ञायक कर्मागम उपयोगवान आतम।
भावागम निक्षेप नाम है, उसका जानो यही नियम।।६५।।

भुज्यमान जो कर्म फलों का, जीव वही नो आगम है।
भावरूप निक्षेप सार में, इसप्रकार से चदुविध है।।६६।।

शब्दश: अर्थ : **तव्वदिरित्तं**=तद्व्यतिरिक्त, **दुविहं**=दो प्रकार का, **कम्मं**=कर्म, **णोकम्मं**=नोकर्म, **इदि**=इसप्रकार, **तहिं**=उनमें से, **कम्मं**=कर्म, **कम्मसरूवेण+आगय**=कर्म-स्वरूप से आया हुआ, **कम्मं**=कर्म, **दव्वं**=द्रव्य, **हवे**=है, **णियमा**=नियम से।।६३।।

कम्मदुदव्वाद्=कर्म-द्रव्य से, **अण्णं**=अन्य/भिन्न, **दव्वं**=द्रव्य, **णोकम्मदव्वं**=नोकर्म-द्रव्य, **इदि**=ऐसा, **होदि**=है, **भावे कम्मं**=भाव में कर्म/कर्म संबंधी भाव निक्षेप, **दुविहं**=दो प्रकार का, **आगम-णो-आगमं**=आगम नो आगम, **ति**=इसप्रकार, **हवे**=है।।६४।।

कम्मागमपरिजाणगजीवो=कर्म संबंधी आगम को सब ओर से जाननेवाला जीव, **कम्मागमम्हि**=कर्म संबंधी आगम में, **उवजुत्तो**=उपयोग लगानेवाला जीव, **भावागमकम्मो**=भाव आगम कर्म/कर्म संबंधी आगम भाव, **त्ति**=इसप्रकार, **य**=और, **तस्स**=उसका, **य**=और, **सण्णा**=नाम, **हवे**=है, **णियमा**=नियम से।।६५।।

णोआगमभावो=नो आगम भाव, **पुण**=और, **कम्मफलं**=कर्म के फल को, **भुंजमाणगो**=भोगनेवाला, **जीवो**=जीव, **इदि**=इसप्रकार, **सामण्णं**=सामान्य, **कम्मं**=कर्म, **चउव्विहं**=चार प्रकार का, **होदि**=होता है, **णियमेण**=नियम से।।६६।।

अन्वय : तव्वदिरित्तं कम्मं णोकम्मं इदि दुविहं तहिं कम्मसरूवेणागय कम्मं दव्वं णियमा कम्मं हवे।

कम्म दव्वाद् अण्णं दव्वं णोकम्मदव्वं इदि होदि भावे कम्मं आगम णो आगमंति दुविहं हवे।

कम्मागम-परिजाणग य कम्मागमम्हि उवजुत्तो जीवो य तस्स सण्णा णियमा भावागमकम्मो त्ति हवे।

पुण कम्मफलं भुंजमाणगो जीवो णोआगमभावो इदि सामण्णं कम्मं णियमेण चउव्विहं होदि।

सरलार्थ : तद्व्यतिरिक्त दो प्रकार का है—कर्म तद्व्यतिरिक्त और नोकर्म तद्व्यतिरिक्त। उनमें से कर्म-स्वरूप से आई हुई कार्मण वर्गणा नियम से कर्म तद्व्यतिरिक्त द्रव्य निक्षेप है; तथा कर्म द्रव्य से भिन्न अन्य सभी द्रव्य/पदार्थ, नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप हैं।

कर्म संबंधी भाव निक्षेप दो प्रकार का है—आगम और नो आगम। कर्म संबंधी आगम को जाननेवाले और उस कर्म संबंधी आगम में उपयोग लगानेवाले जीव का नियम से कर्म संबंधी भावागम/आगम भाव निक्षेप नाम है।

कर्म के फल को भोगता हुआ जीव, नो आगम भाव निक्षेप है।

इसप्रकार नियम से सामान्य कर्म चार प्रकार का है।

स्पष्टीकरण : ज्ञायक शरीर और भावी से भिन्न समस्त सामग्री को कर्म संबंधी तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप कहते हैं। इसके दो भेद हैं—कर्म और नोकर्म।

कर्म स्वरूप से आई हुई विश्रसोपचय रूप कार्मण-वर्गणा को कर्म संबंधी कर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप कहते हैं तथा इससे भिन्न, कर्म के बंध या उदय में निमित्तभूत अन्य समस्त सामग्री को कर्म संबंधी नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप कहते हैं।

इसप्रकार यहाँ द्रव्य-निक्षेप का प्रकरण पूर्ण हुआ।

अब दो गाथाओं द्वारा भाव-निक्षेप को स्पष्ट करते हैं—

कर्म संबंधी ज्ञानरूप से परिणमित या कर्म के फल को भोगता हुआ जीव, कर्म संबंधी भाव निक्षेप कहलाता है। इसके भी आगम और नो आगम—ये दो भेद हैं।

कर्म संबंधी आगम का जानकार तथा वर्तमान में उसमें उपयोग लगानेवाला जीव, कर्म संबंधी आगम भाव निक्षेप है तथा उदय में आनेवाले कर्म के फल को भोगता हुआ/उस संबंधी औदयिक भाव रूप से परिणमित जीव, कर्म संबंधी नो आगम भाव निक्षेप कहलाता है।

इसप्रकार संक्षेप में भाव-निक्षेप को स्पष्ट कर आधी गाथा द्वारा इस सम्पूर्ण प्रकरण का समापन करते हुए लिखा है कि इसप्रकार कर्म, सामान्य-निक्षेप की अपेक्षा नियम से चार प्रकार का होता है।

गाथा ५२ से ६६ पर्यंत १५ गाथाओं वाले, कर्म निक्षेप के इन सभी भेद-प्रभेदों को हम सारणी द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं—

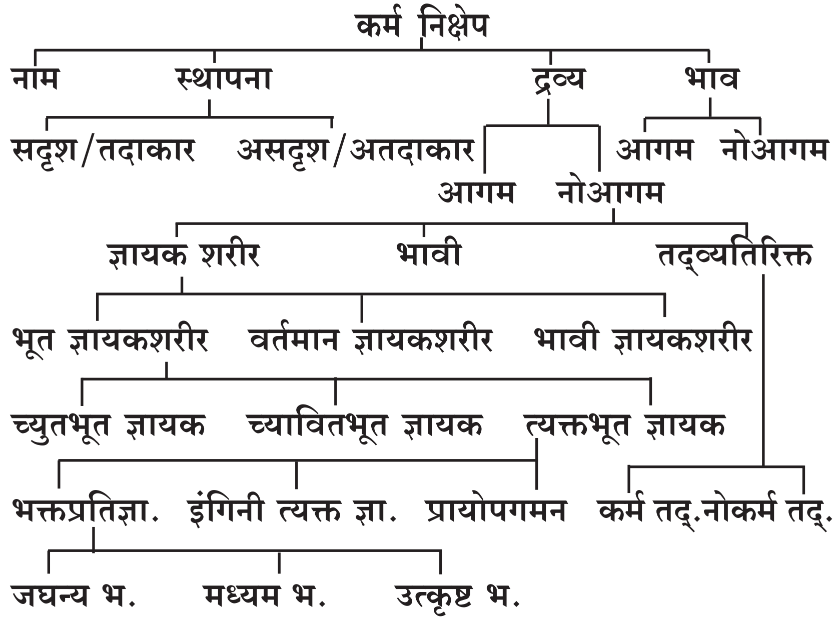

प्रश्न ८७ : इन सभी को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इन्हें समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.पुद्गलों में कार्मण–वर्गणा का परिणमन, सर्वाधिक सूक्ष्म है। कौन–सी वर्गणा, कब, किस कर्म रूप से परिणमित होगी? इसे विना किसी की सहायता के स्व–सामर्थ्य से जाननेवाला ज्ञान कितना विशद होगा? इसप्रकार इस प्रकरण से सर्वज्ञता की महिमा आती है। जिसके बल पर सच्चे देव–शास्त्र–गुरु का तो निर्णय होता ही है; अपने सर्वज्ञ–स्वभाव का भी निर्णय होता है। अपनी अनंत महिमा से अभिभूत होकर उपयोग स्वत: ही पर से हटकर स्वभाव–सम्मुख होता है। जिससे जीवन सम्यक् रत्नत्रय–सम्पन्न अतींद्रिय आनंदमय हो जाता है।

२.जड़ पदार्थों का भी परिणमन पूर्ण सुनिश्चित, सुव्यवस्थित है—यह समझ में आ जाने से क्रम–नियमित/क्रम–बद्ध–पर्याय संबंधी श्रद्धा और भी दृढ़ता से पुष्ट होती है।

३.प्रत्येक कर्म के नोकर्म भी पूर्ण सुनिश्चित हैं। इन्हें देखकर अज्ञानता–वश किए गए अपने अपराधों का तो बोध होता ही है, साथ ही कैसी संगति में रहना और कैसी संगति में नहीं रहना—इसका विवेक भी

जागृत होता है।

४.आगम भाव निक्षेप यह संदेश देता है कि उपयोगात्मक ज्ञान ही लाभ–कारी है। कर्म–सिद्धांत का ज्ञान, मात्र ज्ञान करने के लिए नहीं किया था; वरन् निमित्त–नैमित्तिक संबंध का यथार्थ ज्ञान करने के लिए, अपनी अनंत सामर्थ्य का ज्ञान करने के लिए, पर–कर्तृत्व के निषेध के लिए, सहज ज्ञाता–दृष्टा भाव जागृत करने के लिए इत्यादि बोध पाने के लिए किया था; अत: इन सबका ज्ञानकर आत्मोन्मुखी वृत्ति बनाने की दिशा में पुरुषार्थ–रत रहने की प्रेरणा, यह प्रकरण देता है।

५.नो आगम भाव निक्षेप यह बताता है कि कर्म के फल को भोगने वाला/उससे जुड़नेवाला जीव उस समय उसरूप ही है तथा उसमें मोह, राग, द्वेषरूप परिणत होकर नवीन कर्म–बंध करता है। इससे बचने का एक–मात्र उपाय, इनसे भेद–विज्ञान कर स्वरूप–लीन रहना ही है। इसप्रकार यह प्रकरण कर्म–जन्य प्रत्येक परिस्थिति को सहज स्वीकार कर अपने स्वभाव के आश्रय के बल पर उससे सतत भेद–विज्ञान करते रहने की प्रेरणा देता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ८८ : ६७, ६८ और ६९वीं गाथा को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

मूलुत्तरपयडीणं, णामादी एवमेव णवरिं तु।
सगणामेण य णामं, ठवणा दवियं हवे भावो।।६७।।
मूलुत्तरपयडीणं, णामादि चउव्विहं हवे सुगमं।
वज्जित्ता णोकम्मं, णोआगमभावकम्मं च।।६८।।
पड–पडिहारसि–मज्जा, आहारं देह–उच्च–णीचंगं।
भंडारी मूलाणं, णोकम्मं दविय–कम्मं तु।।६९।।

मूल और उत्तर प्रकृति के, नामादि सब इसीप्रकार।
नाम स्थापना द्रव्य भाव, अपने–अपने नामानुसार।।६७।।
भावकर्म के नो आगम अरु द्रव्यकर्म नोकर्मरहित।
शेष सभी हैं सुगम मूल उत्तर प्रकृति नामादि सहित।।६८।।
पट प्रतिहार असी मदिरा, आहार देह ऊँचे नीचे।
देहाचार तथा भंडारी, मूल कर्म नोकर्म कहे।।६९।।

शब्दश: अर्थ : **मूल+उत्तरपयडीणं**=मूल और उत्तर प्रकृतिओं के, **णाम+आदी**=नाम आदि, **एवं+एव**=इसीप्रकार ही, **णवरिं**=विशेषता, **तु**=परंतु, **सगणामेण**=अपने-अपने नाम के अनुसार, **य**=और, **णामं**=नाम, **ठवणा**=स्थापना, **दवियं**=द्रव्य, **हवे**=है, **भावो**=भाव।।६७।।

मूल+उत्तरपयडीणं=मूल-उत्तर प्रकृतिओं के, **णाम+आदि**=नाम आदि, **चउव्विहं**=चारों प्रकार के, **हवे**=हैं, **सुगमं**=सरल, **वज्जिता**=छोड़कर, **णोकम्मं**=नोकर्म को, **णो आगम भावकम्मं**=नो आगम भावकर्म को, **च**=और।।६८।।

पड=पट/वस्त्रादि, **पडिहार**=प्रतिहार/द्वारपालादि, **सि**=असि/तलवार आदि, **मज्जा**=मदिरा/शराब आदि, **आहारं**=आहार आदि, **देह**=शरीर, **उच्चणीचंगं**=शरीर की उच्च-नीच प्रवृत्तिआँ, **भंडारी**=भंडारी/खजानची, **मूलाणं**=मूल के, **णोकम्मं**=नोकर्म, **दवियकम्मं**=द्रव्यकर्म, **तु**=और।।६९।।

अन्वय : मूल उत्तर पयडीणं णाम आदी एवं एव तु णवरिं सगणामेण णामं ठवणा दवियं य भावो हवे।

णोकम्मं च णोआगम भावकम्मं वज्जित्ता मूल उत्तर पयडीणं णाम आदि चउव्विहं सुगमं हवे।

मूलाणं णोकम्मं दवियकम्मं तु पड पडिहार असि मज्जा आहारं देह उच्च-अंगं णीच-अंगं भंडारी।

सरलार्थ : मूल और उत्तर प्रकृतिओं के नाम आदि इसीप्रकार हैं। विशेषता मात्र इतनी है कि इनमें अपने-अपने नाम के अनुसार नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप हैं।

नोकर्म और नो आगम भावकर्म को छोड़कर, मूल और उत्तर प्रकृतिओं के शेष सभी नाम आदि चारों प्रकार के निक्षेप सरल हैं।

वस्त्र आदि, द्वारपाल आदि, तलवार आदि, मदिरा आदि, भोजन आदि, शरीर आदि, शरीर की उच्च-नीच प्रवृत्ति आदि और भंडारी आदि क्रमश: मूल-प्रकृतिओं के नोकर्म द्रव्य कर्म हैं।

स्पष्टीकरण : ५२ से ६६ पर्यंत १५ गाथाओं द्वारा कर्म-सामान्य के निक्षेप बताए गए थे। अब यहाँ उन्हीं निक्षेपों को कर्म की ज्ञानावरणादि

आठ मूल और मति-ज्ञानावरणादि एक सौ अड़तालीस उत्तर-प्रकृतिओं पर घटित करके बता रहे हैं। मूल और उत्तर प्रकृतिओं के मात्र उस-उस कर्म संबंधी नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप और नो आगम भाव निक्षेप को छोड़कर शेष सभी नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप चारों निक्षेपों के भेद-प्रभेद, कर्म-सामान्य के समान ही हैं; विशेषता मात्र इतनी है कि उनका वर्णन करते समय उनका अपना-अपना नाम, उस निक्षेप के साथ जुड़ जाएगा। जैसे—ज्ञानावरण नाम निक्षेप, मतिज्ञानावरण नाम निक्षेप इत्यादि।

मूल-प्रकृतिओं के नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप इसप्रकार हैं—ज्ञानावरण के वस्त्र आदि, दर्शनावरण के द्वारपाल आदि, वेदनीय के तलवार आदि, मोहनीय के मदिरा आदि नशा-कारक पदार्थ, आयुष्क के भोजन आदि शरीर की पुष्टि-योग्य पदार्थ, नामकर्म के शरीर आदि, गोत्रकर्म के शरीर की उच्च-नीच आदि प्रवृत्तिआँ, अंतराय-कर्म के भण्डारी आदि नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप हैं।

निष्कर्ष यह है कि इन ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतिओं के उदय आदि के समय जो बाह्य निमित्त होते हैं, वे इनके नोकर्म कहलाते हैं।

प्रश्न ८९ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : १५ गाथाओं वाले कर्म सामान्य संबंधी निक्षेप का ही विस्तार होने से, उस प्रकरण संबंधी सभी लाभ यथा-योग्य यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

गाथा २१वीं में ज्ञानावरणादि के कार्यों को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया था और यहाँ ६९वीं गाथा में उनके नोकर्म बताए गए हैं। ज्ञानावरण कर्म का उदय रहना हो, विशिष्ट क्षयोपशम नहीं होना हो, हमें विशिष्ट क्षायोपशमिक ज्ञान व्यक्त नहीं होना हो तो ज्ञान के क्षेत्र में हमारा उपयोग वस्त्रादि के माध्यम से अधिक चंचल रहता है। इस चंचलता को नष्ट करने के लिए विद्यालय/स्कूल आदि ज्ञानार्जन के क्षेत्रों में सभी की एक समान सुनिश्चित वेष-भूषा रखी जाती है। हम भी अपने या दूसरे के उपयोग को चंचल करने में कारण बननेवाले वस्त्रादि पदार्थों से बुद्धि पूर्वक बचें—यह विवेक जागृत करानेवाला यह प्रकरण है।

इसी प्रकार शेष कर्मों में भी समझ लेना चाहिए।

प्रश्न ९० : ज्ञानावरण कर्म की उत्तर-प्रकृतिओं के नोकर्म स्पष्ट कीजिए?
उत्तर : उन्हें स्पष्ट करने वाली वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

पडविसयपहुदि दव्वं, मदिसुदबाघादकरणसंजुत्तं।
मदि-सुद-बोहाणं पुण, णोकम्मं दविय-कम्मं तु।।७०।।
ओहिमणपज्जवाणं, पडिघादणिमित्तसंकिलेसयरं।
जं बज्झट्ठं तं खलु, णोकम्मं केवले णत्थि।।७१।।

वस्त्र विषय पंचेंद्रियादि के, मतिश्रुत-बाधा-कारक जो।
मतिश्रुत ज्ञानावरण कर्म नोकर्म द्रव्य जानो उनको।।७०।।
अवधि मन:पर्यय विघात में कारण संक्लेश परिणाम।
उनके कारण बाह्य अर्थ तत्कर्मावरण द्रव्यनोकर्म।।
केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय में होता केवलज्ञान।
अत: नहीं नोकर्म जगत में सदा प्रकाशी केवलज्ञान।।७१।।

शब्दश: अर्थ : **पडविसयपहुदिदव्वं**=इंद्रियों को आवृत करनेवाले विषय वस्त्र आदि पदार्थ, **मदिसुदवाघादकरणसंजुत्तं**=मति और श्रुत ज्ञान में व्याघात/बाधा डालने की योग्यतावाले, **मदिसुदबोहाणं**=मति-श्रुत ज्ञान के, **पुण**=और, **णोकम्मं**=नोकर्म, **दवियकम्मं**=द्रव्यकर्म, **तु**=वास्तव में।।७०।।

ओहिमणपज्जवाणं=अवधि-मन:पर्ययज्ञान के, **पडिघादणिमित्त-संकिलेसयरं**=प्रतिघात में निमित्त बननेवाले संक्लेश परिणामों को करने में कारणभूत, **जं**=जो, **बज्झट्ठं**=बाह्य पदार्थ, **तं**=वह, **खलु**=वास्तव में, **णोकम्मं**=नोकर्म, **केवले**=केवलज्ञान में, **णत्थि**=नहीं हैं।।७१।।

अन्वय : मदिबाघादकरणसंजुत्तं पड-विसय-पहुदि दव्वं मदिबोहाणं णोकम्मं दवियकम्मं तु पुण सुदवाघादकरणसंजुत्तं पड-विसय-पहुदि दव्वं सुदबोहाणं णोकम्मं दवियकम्मं।

ओहि पडिघादणिमित्तसंकिलेसयरं जं बज्झट्ठं तं खलु ओहि णोकम्मं मणपज्जवाणं पडिघादणिमित्तसंकिलेसयरं जं बज्झट्ठं तं णोकम्मं केवले णोकम्मं णत्थि।

सरलार्थ : मति और श्रुत ज्ञान में बाधा डालने की योग्यतावाले, इंद्रियों को ढकने/बंद कर देनेवाले पंचेंद्रिय विषय, मति-श्रुत ज्ञान के

नोकर्म द्रव्यकर्म हैं।

अवधि और मन:पर्यय ज्ञान को बाधित करने में निमित्त होनेवाले संक्लेश परिणामों को उत्पन्न करने में कारण बननेवाले बाह्य पदार्थ, अवधि-मन:पर्यय ज्ञान के नोकर्म हैं। केवलज्ञान में नोकर्म नहीं है।

स्पष्टीकरण : प्रगट हुए क्षायोपशमिक ज्ञान में बाधक बननेवाले पदार्थ, ज्ञानावरण के नोकर्म कहलाते हैं। ज्ञानावरण की मति-ज्ञानावरण, श्रुत-ज्ञानावरण, अवधि-ज्ञानावरण, मन:पर्यय-ज्ञानावरण और केवल-ज्ञानावरण—ये पाँच उत्तर-प्रकृतिआँ हैं।

मति-ज्ञानावरण के क्षयोपशम के समय व्यक्त हुआ मति-ज्ञान; पाँच इंद्रिय और मन के माध्यम से पर-पदार्थों को जानता है। जो पदार्थ इसमें बाधक हैं, वे मति-ज्ञानावरण के नोकर्म हैं। जैसे—हम आँख से किसी पदार्थ का रूप-रंग देखना चाहते हैं; परन्तु आँख और उस पदार्थ के बीच में कोई मोटा वस्त्र या दीवाल आदि आ जाने के कारण हम उसके रूप-रंग का मति-ज्ञान नहीं कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में मोटे वस्त्र या दीवाल आदि, चक्षु इंद्रिय संबंधी मति-ज्ञानावरण के नोकर्म कहलाते हैं। इसीप्रकार से शेष इंद्रिय और मन के भी समझ लेना चाहिए।

श्रुत-ज्ञानावरण के क्षयोपशम के समय व्यक्त हुआ श्रुत-ज्ञान; मति-ज्ञान द्वारा जाने हुए पदार्थों को विशेष रूप से जानता है। इसके लिए उस मतिज्ञान का धारण, अवधारण होना आवश्यक है। इसके बाद उस ज्ञात विषय का चिंतन-मनन आवश्यक है, तब कहीं जाकर किसी विषय संबंधी विशिष्ट श्रुत-ज्ञान व्यक्त होता है। जो पंचेंद्रिय विषय-भोग, ये सब नहीं होने देने में कारण होते हैं; वे सभी श्रुत-ज्ञानावरण के नोकर्म हैं।

अवधि-ज्ञानावरण या मन:पर्यय-ज्ञानावरण के क्षयोपशम के समय व्यक्त हुए क्रमश: अवधि-ज्ञान या मन:पर्यय-ज्ञान; विशिष्ट विशुद्ध-परिणामों में ही टिक पाते हैं। संक्लेश-परिणामों का निमित्त पाकर ये, कम या समाप्त हो जाते हैं। वे संक्लेश-परिणाम जिन पदार्थों या परिस्थितिओं के संयोग में होते हैं; वे सभी, अवधि-ज्ञानावरण या मन:पर्यय-ज्ञानावरण के नोकर्म हैं।

केवलज्ञान, ज्ञान गुण का ऐसा परिणमन है जो व्यक्त होने के बाद हीन या परंपरा की अपेक्षा कभी भी नष्ट नहीं होता है। इसके घात में निमित्त होनेवाले केवल-ज्ञानावरण का उदय या क्षय ही होता है। उसमें अनुदय, उपशम या क्षयोपशम रूप दशा नहीं होती है। इसप्रकार उसके कार्य में विविधता नहीं होने से उसका कोई नोकर्म भी नहीं है।

इसप्रकार ज्ञानावरण की उत्तर-प्रकृतिओं के नोकर्मों को इन दो गाथाओं द्वारा बताया गया है।

प्रश्न ११ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.पंचेंद्रिय विषय-भोग के परिणाम, उनमें तीव्र आसक्ति, पंचेंद्रिय विषयों की विविधता, अनेकानेक कार्यों की जिम्मेदारी-चिंताएं आदि हमारे प्रगट मति-श्रुत ज्ञान को कम करने में कारण हैं—यह समझ में आ जाने पर हम बुद्धि पूर्वक ऐसे भावों, प्रसंगों, परिस्थितिओं, पदार्थों से बचने का प्रयास करते हैं तथा प्राप्त ज्ञान को बड़ाने के लिए यदि उसे सब ओर से समेटकर ज्ञान-स्वभावी आत्मा में जोड़ते हैं, तो जीवन ज्ञान-आनंदमई हो जाता है।

२.मति-श्रुत ज्ञान वास्तव में कर्माधीन दशाएं हैं—यह समझ में आ जाने पर उनमें राग-द्वेष, दीनता-हीनता या घमण्ड आदि न कर, प्राप्त परिस्थिति को सहज स्वीकार करने का भाव जागृत होता है; जिससे जीवन सहज समतामय हो जाता है।

३.अभी अवधि-ज्ञान या मन:पर्यय-ज्ञान प्रगट नहीं होने में वास्तव में देश या काल, कारण नहीं हैं; वरन् हमारे संक्लेश-परिणाम ही कारण हैं—यह समझ में आ जाने पर देश-काल पर दोषारोपण करने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है तथा संक्लेशता में कारणभूत परिस्थितिओं से बुद्धि पूर्वक बचते हुए स्वभाव-सन्मुखता का पुरुषार्थ जागृत होता है।

४.केवल-ज्ञानावरण कर्म के बंध से केवल-ज्ञान-स्वभावी आत्मा की सत्ता भी सहज सिद्ध हो जाती है। इसके सहज स्वाभाविक अनंत सामर्थ्य का ज्ञान होने पर उसे पर्याय में प्रगट करने की दिशा में पुरुषार्थ जागृत होता है।

५.केवल-ज्ञानावरण का कोई नोकर्म नहीं है, अर्थात् हमारा केवलज्ञान किसी बाह्य कारण से बाधित नहीं है; वरन् परिपूर्ण स्वरूप-स्थिरता के अभाव से व्यक्त नहीं हो रहा है—यह समझ में आ जाने पर स्वरूप-स्थिर रहने की दिशा में अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ जागृत होता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १२ : दर्शनावरण और वेदनीय कर्म के नोकर्म स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उन्हें स्पष्ट करने वालीं वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

पंचण्हं णिद्दाणं, माहिस-दहि-पहुदि होदि णोकम्मं।
वाघाद-कर-पडादी, चक्खु-अचक्खूण णोकम्मं।।७२।।
ओही-केवल-दंसण णोकम्मं ताण णाण-भंगो व।
सादेदर - णोकम्मं, इट्ठाणिट्ठण्ण - पाणादि।।७३।।

भेंस-दूध के दहि आदि नोकर्म पाँच निद्राओं के।
बाधा-कारक वस्त्रादि नोकर्म अचक्षु चक्षु के।।७२।।
ज्ञान समान अवधि केवलदर्शन आवरणी के नोकर्म।
इष्ट अनिष्ट अन्न पानादि सात-असाता के नोकर्म।।७३।।

शब्दश: अर्थ : **पंचण्हं**=पाँचों, **णिद्दाणं**=निद्राओं के, **माहिस-दहिपहुदि**=भैंस के दूध का दही आदि पदार्थ, **होदि**=होता है, **णोकम्मं**=नोकर्म, **वाघादकर**=व्याघात करनेवाले, **पडादी**=पट/वस्त्र आदि, **चक्खुअचक्खूण**=चक्षु-अचक्षु के, **णोकम्मं**=नोकर्म ।।७२।।

ओहीकेवलदंसण=अवधि-केवल दर्शन के, **णोकम्मं**=नोकर्म, **ताण**=उन संबंधी, **णाणभंगो**=ज्ञान के भंग के, **व**=समान, **साद+इदर**=साता और उससे भिन्न/असाता के, **णोकम्मं**=नोकर्म, **इट्ठ+अणिट्ठ**=इष्ट-अनिष्ट, **अण्णपाण+आदि**=अन्न-पान आदि ।।७३।।

अन्वय : पंचण्हं णिद्दाणं णोकम्मं माहिसदहिपहुदि चक्खु अचक्खूण णोकम्मं वाघादकर पडादी होदि।

ओही दंसण केवल दंसण णोकम्मं ताण णाण भंगो व साद णोकम्मं इट्ठ अण्ण-पाण आदी इदर णोकम्मं अणिट्ठ अण्ण-पाण आदी।

सरलार्थ : पाँचों निद्राओं के नोकर्म भैंस के दूध के दही आदि पदार्थ हैं। चक्षु-अचक्षु दर्शनावरण के नोकर्म इन संबंधी दर्शनों में बाधा डालनेवाले वस्त्र आदि पदार्थ हैं।

अवधि और केवल दर्शनावरण के नोकर्म उन संबंधी ज्ञानावरण के नोकर्मों के समान हैं। साता-वेदनीय और असाता-वेदनीय कर्म के नोकर्म इष्ट-अनिष्ट भोजन-पान आदि पदार्थ हैं।

स्पष्टीकरण : दर्शनावरण के उदय रूप कार्य में जो सहायक हैं तथा क्षयोपशमरूप कार्य में बाधक हैं, वे सभी दर्शनावरण कर्म के नोकर्म हैं। दर्शनावरण की नौ प्रकृतिओं में से स्त्यानगृद्धि आदि पाँच प्रकृतिआँ निद्रा से संबंधित हैं तथा चक्षुदर्शनावरण आदि शेष चार दर्शन से संबंधित हैं। जिन पदार्थों के सेवन से या जिन परिस्थितिओं में निद्रा अधिक या तीव्र आने लगे, निद्रा की मात्रा तथा समय बढ़ जाए, वे सभी पदार्थ या परिस्थितिआँ पाँच निद्रा संबंधी दर्शनावरण के नोकर्म हैं। जैसे—भैंस के दूध का दही, गरिष्ठतम-उत्तेजना-वर्धक भोजन-पान, शक्ति से अधिक श्रम कर लेने से उत्पन्न थकावट, वातानुकूलित ओढ़ने-बिछाने के साधन आदि। इन स्थितिओं में निद्रा अधिक आती है, अखण्ड चलती रहती है; कई-कई घंटों पर्यंत बुद्धि पूर्वक जीव, पदार्थों का समान्य प्रतिभास भी नहीं कर पाता है; अत: ये सभी, पाँच निद्रा संबंधी दर्शनावरण के नोकर्म हैं।

चक्षु और अचक्षु दर्शनोपयोग में बाधा डालने वाले पदार्थ, परिस्थितिआँ चक्षु-अचक्षु दर्शनावरण के नोकर्म हैं। चक्षु इंद्रिय संबंधी मति-ज्ञानोपयोग के पहले होनेवाला पदार्थ का सामान्य अवलोकन, चक्षु-दर्शनोपयोग है। इसमें बाधक वस्त्र, दीवाल आदि पदार्थ, चक्षु दर्शनावरण के नोकर्म हैं। चक्षु इंद्रिय को छोड़कर शेष स्पर्शन आदि चार इंद्रिय और मन संबंधी मति-ज्ञान के पहले होनेवाला पदार्थ का सामान्य अवलोकन, अचक्षु-दर्शनोपयोग है। इसमें बाधक वस्त्र, हीटर, कूलर आदि पदार्थ, अचक्षु-दर्शनावरण के नोकर्म हैं।

अवधिज्ञान के पूर्व होनेवाले अवधि-दर्शन में बाधक, संक्लेश परिणामों में निमित्त होनेवाले पदार्थ, अवधि-दर्शनावरण के नोकर्म हैं। केवल-ज्ञान के साथ होनेवाले केवल-दर्शन में हीनाधिकता और परंपरा की अपेक्षा क्षय का अभाव होने से तत्संबंधी केवल-दर्शनावरण के कोई नोकर्म नहीं हैं।

साता और असाता रूप वेदन में निमित्त होनेवाले इष्ट-अनिष्ट भोजन-पान आदि पंचेंद्रिय विषय-भोग सामग्री, साता-असाता वेदनीय कर्म की नोकर्म है।

प्रश्न १३ : जबकि छद्मस्थ दशा में ज्ञान, दर्शन पूर्वक ही होता है, तब फिर ज्ञान के मति-ज्ञान आदि के समान, दर्शन के मति-दर्शन आदि भेद क्यों नहीं किए गए? चक्षु, अचक्षु-दर्शन रूप भेद क्यों किए गए?

उत्तर : ज्ञान के मति-ज्ञान आदि के समान, दर्शन के मति-दर्शन आदि भेद नहीं करने के कारण निम्नलिखित हैं—

ज्ञान के श्रुत-ज्ञान, मन:पर्यय-ज्ञान के समान; दर्शन के श्रुत-दर्शन और मन:पर्यय-दर्शनरूप भेद नहीं हैं; इसका कारण यह है कि ये दोनों ज्ञान, दर्शनोपयोग पूर्वक होते ही नहीं हैं। ये दोनों ही ज्ञान, मति-ज्ञान पूर्वक होते हैं। श्रुत-ज्ञान तो मति-ज्ञान के अवाय आदि भेद के बाद हो सकता है; परन्तु मन:पर्ययज्ञान सदैव ईहा मतिज्ञान पूर्वक होता है; अत: दर्शन के भेदों में श्रुत-दर्शन और मन:पर्यय दर्शन—ये भेद नहीं हैं।

यद्यपि मति-ज्ञान, पाँच इंद्रिय और मन के निमित्त से ही बाह्य पदार्थों को जानता है तथा प्रत्येक इंद्रिय संबंधी मति-ज्ञान के पहले, उस संबंधी दर्शनोपयोग भी होता ही है; अत: उस दर्शन के भी स्पर्शन इंद्रिय संबंधी दर्शन, रसना इंद्रिय संबंधी दर्शन, घ्राण इंद्रिय संबंधी दर्शन, चक्षु इंद्रिय संबंधी दर्शन, कर्ण इंद्रिय संबंधी दर्शन और मन संबंधी दर्शन—ये भेद हो जाते हैं; तथापि इन सभी में पदार्थ के सामान्य अवलोकन की समानता होने से ऐसा पृथक्-पृथक् विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है।

संक्षेप में मात्र दो भेद करने के लिए चक्षु-अचक्षु दर्शन के समान; स्पर्शन-अस्पर्शन, रसना-अरसना, घ्राण-अघ्राण, कर्ण-अकर्ण और मन-अमन दर्शन—ऐसे भेद भी किए जा सकते हैं; परन्तु ऐसे भेद नहीं कर, चक्षु इंद्रिय की मुख्यता से ही दर्शन के भेद किए हैं। चक्षु-दर्शन में चक्षु इंद्रिय संबंधी सामान्य अवलोकन को ग्रहण किया है तथा अचक्षु-दर्शन में चक्षु इंद्रिय को छोड़कर शेष चार इंद्रिय और मन संबंधी सामान्य अवलोकन को गर्भित किया गया है।

ऐसा करने में कारण यही प्रतीत होता है कि यद्यपि मति-ज्ञान में अन्य इंद्रियों की निमित्तता के समान ही चक्षु इंद्रिय की निमित्तता है; तथापि सामान्य-जन अन्य इंद्रियों संबंधी जानकारी को तो ज्ञान नाम देता है; परन्तु चक्षु इंद्रिय संबंधी जानकारी को ज्ञान नाम नहीं देकर देखना/दर्शन नाम देता है। उसके इस अज्ञान को नष्ट कर, उसे यह बताने के लिए; कि जिसे तुम दर्शन समझ रहे हो, वह दर्शन नहीं, ज्ञान ही है; दर्शन तो इस ज्ञान से पूर्व तथा प्रत्येक इंद्रिय संबंधी होता है और अति सूक्ष्म होने के कारण हमारे ज्ञान-गोचर नहीं है।

इसप्रकार श्रुत-ज्ञान और मन:पर्यय-ज्ञान, दर्शनोपयोग पूर्वक नहीं होने से उन संबंधी श्रुत-दर्शन और मन:पर्यय-दर्शन—दर्शनोपयोग के ये भेद नहीं किए गए हैं तथा चक्षु से देखना, दर्शन नहीं, ज्ञान ही है; दर्शन भी ज्ञान के समान प्रत्येक इंद्रिय और मन निमित्तक है—यह बताने की मुख्यता से दर्शन के चक्षु-अचक्षु भेद किए गए हैं।

प्रश्न १४ : दर्शनावरण और वेदनीय कर्म के नोकर्म समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इन्हें समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.यदि हम अपने दर्शन गुण के सामान्य अवलोकन रूप परिणमन का घात नहीं चाहते हैं तो बुद्धि पूर्वक निद्रा में कारणभूत परिस्थितिओं, पदार्थों, शारीरिक-मानसिक अति-श्रम, गरिष्ठतम भोजन-पान आदि से बचने का विवेक, यह प्रकरण जागृत करता है।

२.इष्ट-अनिष्ट भोजन-पान आदि पंचेंद्रिय विषय-भोग के पदार्थ, साता-असाता वेदनीय कर्म के उदय में मिलते नहीं हैं; वरन् ये वेदनीय कर्म के उदय के आश्रयभूत निमित्त होने से नोकर्म हैं—यह समझ में आ जाने पर हम उन्हें जोड़ने या हटाने के निरर्थक प्रयास से बचकर, इष्ट-अनिष्ट लगने में मूल कारणभूत मोह-राग-द्वेष को ही नष्ट करने के लिए आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ करने में लगते हैं। जिससे बाह्य परिस्थिति तो सहज स्वीकृत हो ही जाती है; साथ ही जीवन सम्यक् रत्नत्रय-संपन्न अतींद्रिय आनन्दमय हो जाता है।

३.निमित्त-नैमित्तिक संबंध का यथार्थ ज्ञान हो जाने से, निमित्त को निमित्त रूप से स्वीकार कर, उपादान में पूर्णतया उसके अकर्तृत्व की

मान्यता के बल पर निमित्ताधीन दृष्टि नष्ट होकर स्वतंत्र, स्वाधीन स्वकर्तृत्व/सहज-कर्तृत्व/अकर्तृत्वमय ज्ञातृत्व भाव प्रगट हो जाता है। जो स्वयं सुखमय-दशा है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १५ : ७४ से ७७ पर्यंत चार गाथाओं के आधार से मोहनीय कर्म के नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उन्हें बताने वाली वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

आयदणाणायदणं, सम्मे मिच्छे य होदि णोकम्मं।
उभयं सम्मा-मिच्छे, णो-कम्मं होदि णियमेण।।७४।।
अण-णो-कम्मं मिच्छत्तायदणादी हु होदि सेसाणं।
सग-सग-जोग्गं सत्थं, सहाय-पहुदी हवे णियमा।।७५।।
थी-पुं-संढ-सरीरं, ताणं णो-कम्म दव्व-कम्मं तु।
बेलंवको सुपुत्तो, हस्स-रदीणं च णो-कम्मं।।७६।।
इट्ठाणिट्ठविजोग-जोगं अरदिस्स मुदसुपुत्तादी।
सोगस्स य सिंहादि-णिंदिद-दव्वं च भय-जुगले।।७७।।

सम्यक् के नोकर्म आयतन, अनायतन हैं मिथ्या के।
जानो नियम विचित्र यही हैं दोनों सम्यग्मिथ्या के।।७४।।
अनन्तानुबंधी कषाय के, मिथ्या-सम नोकर्म कहे।
शेष कषायों के कषाय-पोषक ग्रंथादि अन्य कहे।।७५।।
स्त्री पुरुष नपुंसक तन ही हैं बनते उनके नोकर्म।
विदूषकादि सुपुत्र आदि, हास्य रति के हैं नोकर्म।।७६।।
इष्ट वियोग अनिष्ट योग अरति के मृत सुपुत्र आदि।
शोक जुगुप्सा भय के निंदित द्रव्य और हैं सिंहादि।।७७।।

शब्दश: अर्थ : **आयदण+अणायदणं**=आयतन-अनायतन, **सम्मे**=सम्यक्त्व में, **मिच्छे**=मिथ्यात्व में, **य**=और, **होदि**=होते हैं, **णोकम्मं**=नोकर्म, **उभयं**=दोनों, **सम्मामिच्छे**=सम्यग्मिथ्यात्व में, **णोकम्मं**=नोकर्म, **होदि**=होता है, **णियमेण**=नियम से।।७४।।

अण+णो कम्मं=अनंतानुबंधी के नोकर्म, **मिच्छत्त+आयदण+आदी**=मिथ्यात्व के आयतन आदि, **हु**=वास्तव में, **होदि**=होते हैं, **सेसाणं**= शेष के, **सगसगजोग्गं**=अपने-अपने योग्य, **सत्थं**=शास्त्र,

सहायपहुदी=सहायक आदि, **हवे**=होते हैं, **णियमा**=नियम से।।७५।।

थी+पुं+संढ+सरीरं=स्त्री-पुरुष-नपुंसक का शरीर, **ताणं**=उनके, **णोकम्म**=नोकर्म, **दव्वकम्मं**=द्रव्यकर्म, **तु**=और, **बेलंवको**=बेलंवक /विदूषक, **सुपुत्तो**=सुपुत्र, **हस्स+रदीणं**=हास्य-रति के, **च**=और, **णोकम्मं**=नोकर्म।।७६।।

इट्ठ+अणिट्ठ+विजोग+जोगं=इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग, **अरदिस्स**=अरति के, **मुद-सुपुत्त+आदी**=मृत सुपुत्र आदि, **सोगस्स**=शोक के, **य**=और, **सिंह+आदि**=शेर आदि, **णिंदिददव्वं**= निंदित द्रव्य, **च**=और, **भय जुगले**=भय युगल/भय-जुगुप्सा के।।७७।।

अन्वय : आयदणं सम्मे णोकम्मं य अणायदणं मिच्छे णोकम्मं होदि णियमेण उभयं सम्मामिच्छे णोकम्मं होदि।

मिच्छत्त आयदण आदी अणणोकम्मं होदि हु सेसाणं णोकम्मं सगसगजोग्गं सत्थं सहायपहुदी णियमा हवे।

थीसरीरं पुंसरीरं संढसरीरं तु ताणं णोकम्मं दव्वकम्मं बेलंवको हस्स णोकम्मं च सुपुत्तो रदीणं णोकम्मं।

इट्ठ-विजोग अणिट्ठ-जोगं अरदिस्स णोकम्मं मुदसुपुत्त आदी सोगस्स णोकम्मं सिंह आदी च णिंदिद दव्वं भयजुगले णोकम्मं।

सरलार्थ : सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के नोकर्म क्रमश: आयतन और अनायतन हैं। सम्यग्मिथ्यात्व के नोकर्म, आयतन-अनायतन दोनों ही नियम से हैं।

मिथ्यात्व संबंधी आयतन, अनंतानुबंधी के नोकर्म हैं। शेष अप्रत्याख्यानावरण आदि के नोकर्म, वास्तव में देशचारित्र आदि के घात में सहायक शास्त्र आदि नियम से होते हैं।

स्त्री, पुरुष और नपुंसकरूप शरीर ही उन-उनके नोकर्म हैं। विदूषक आदि हास्य के, सुपुत्र आदि रति के नोकर्म द्रव्यकर्म हैं।

इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग, अरति के नोकर्म हैं। मृत सुपुत्र आदि, शोक के; शेर आदि, भय के और निंदित द्रव्य आदि, जुगुप्सा के नोकर्म हैं।

स्पष्टीकरण : स्वरूप के प्रति असावधान रहने में निमित्तभूत मोहनीय कर्म के मूल में दो भेद हैं—दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय।

दर्शन-मोहनीय की तीन और चारित्र-मोहनीय की पच्चीस, उत्तर-प्रकृतिआँ हैं। यहाँ क्रमश: उनके नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यकर्म का वर्णन करते हैं—

मिथ्यात्व के नोकर्म; कुदेव, कुदेव के मंदिर, कुशास्त्र, कुशास्त्र के धारक, कुतप, कुतप के धारक रूप षट् अनायतन आदि हैं; अर्थात् जिन व्यक्तिओं, संयोगों, परिस्थितिओं के सान्निध्य में जीव की विपरीत मान्यताएं पुष्ट होती हैं, वे सभी मिथ्यात्व के नोकर्म हैं। जिन, जिन-मंदिर, जिनागम, जिनागम के धारक, तप और तप के धारक आदि जो व्यक्ति, संयोग, परिस्थितिआँ हमारी सम्यक् मान्यताओं को पुष्ट करने में निमित्त होती हैं, वे सभी सम्यक्त्व के नोकर्म हैं। सम्यक्-मिथ्यात्व—दोनों ही मान्यताओं को पुष्ट करनेवाले व्यक्ति, संयोग, परिस्थितिआँ आदि आयतन-अनायतन, सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के नोकर्म हैं।

मिथ्यात्व की अनुगामिनी होने के कारण षट् अनायतन आदि मिथ्यात्व के नोकर्म, अनंतानुबंधी क्रोधादि के भी नोकर्म हो जाते हैं। काव्य, नाटक, कोक आदि शास्त्र; पापी पुरुषों की संगति आदि देश-चारित्र के घात में सहायक सामग्री, अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि के नोकर्म हैं। गृहस्थ धर्म संबंधी षडावश्यकों के प्रति तीव्र आकर्षण, आहार-दान आदि की विशेष महिमा आना; सामूहिक अध्ययन-अध्यापन, पूजन-पाठ, विधान आदि का आकर्षण; सावद्य-योगमय क्रियाओं का आकर्षण इत्यादि सकल-चारित्र के घात में सहायक व्यक्ति, संयोग, परिस्थितिआँ, शास्त्र आदि; प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि के नोकर्म हैं। संघ-संचालन, ग्रंथ-लेखन, दीक्षा-शिक्षा देना, समाधि कराना इत्यादि जो-जो भाव, व्यक्ति, संयोग, परिस्थितिआँ; पूर्ण स्वरूप-लीनतामय यथाख्यात-चारित्र के घात में सहायक हैं, वे सभी संज्वलन क्रोधादि के नोकर्म हैं।

स्त्री, पुरुष, नपुंसकरूप शरीर क्रमश: स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेदरूप नोकषाय के नोकर्म हैं। हास्य उत्पन्न होने में सहायक विदूषक, बहुरूपिया आदि पदार्थ, हास्य के नोकर्म हैं। प्रीति उत्पन्न होने में सहायक, आज्ञाकारी पुत्र, पति, पत्नि, कुटुम्ब आदि पदार्थ; रति के

नोकर्म हैं। इष्ट लगनेवाले पदार्थ का अभाव हो जाना, अनिष्ट लगने वाले पदार्थ मिल जाना इत्यादि, अप्रीति उत्पन्न होने में सहायक पदार्थ; अरति के नोकर्म हैं। आज्ञाकारी पुत्र का मरण, प्रिय वस्तु का विनाश इत्यादि शोक/खेद/दु:खरूप भाव के उत्पन्न होने में सहायक पदार्थ; शोक के नोकर्म हैं। भयानक दृश्य, डरावनी आकृति, शेर आदि, भय उत्पन्न होने में सहायक पदार्थ; भय के नोकर्म हैं। अशुचि पदार्थ आदि, घृणा उत्पन्न होने में सहायक पदार्थ; जुगुप्सा नोकषाय के नोकर्म हैं।

इसप्रकार ७४ से ७७ पर्यंत चार गाथाओं द्वारा मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतिओं के नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप का वर्णन किया गया है।

प्रश्न ९६ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होने वाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं–

*१.*हम किन संयोगों में रहना चाहते हैं, इससे हमारे परिणामों का हमें बोध होता है, जिससे हमें अपनी भूमिका का ज्ञान होता है, इस ज्ञान के बल पर अपनी भूमिका बड़ाने के लिए आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ जागृत होता है।

*२.*अपने परिणामों का और इन नोकर्मों का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने के कारण हमें बुद्धिपूर्वक किन संयोगों में रहना और किन संयोगों में नहीं रहना—इसका सम्यक् बोध हो जाता है।

३.इस प्रकरण से सम्यक् देव-शास्त्र-गुरु का निर्णय करने में भी सहायता मिलती है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ९७ : गाथा ७८ के आधार से आयुष्क कर्म के नोकर्म लिखिए?

उत्तर : वह गाथा इसप्रकार है—

णिरयायुस्स अणिट्ठाहारो सेसाणमिट्ठमण्णादी।
गदि-णोकम्मं दव्वं, चउग्गदीणं हवे खेत्तं।।७८।।

नारक आयु के अनिष्ट अन्नादि शेष के इष्ट पदार्थ।
गतिओं के नोकर्म कहे हैं, अपने-अपने स्थल चार।।७८।।

शब्दश: अर्थ : **णिरय+आयुस्स**=नरक आयुष्क का, **अणिट्ठ+**

आहारो=अनिष्ट-आहार, **सेसाणं**=शेष तीन आयुष्क के, **इट्ठं**=इष्ट, **अण्ण+आदी**=अन्न आदि, **गदिणोकम्मं**=गति का नोकर्म, **दव्वं**= द्रव्य, **चउग्गदीणं**=चार गतिओं का, **हवे**=होता है, **खेत्तं**=क्षेत्र।।७८।।

अन्वय : अणिट्ठ आहारो णिरय आयुस्स इट्ठं अण्ण आदी सेसाणं णोकम्मं चउग्गदीणं खेत्तं गदि-णोकम्मं दव्वं हवे।

सरलार्थ : नरक आयुष्क के नोकर्म, अनिष्ट आहार आदि हैं तथा शेष तीन आयुष्क के नोकर्म, इष्ट आहार आदि हैं।

गति नामकर्म का नोकर्म-द्रव्य, चार गति का क्षेत्र है।

स्पष्टीकरण : इस गाथा में पूर्वार्ध द्वारा आयुष्क कर्म के और उत्तरार्ध द्वारा गति नामक नामकर्म के नोकर्म बताए गए हैं।

मनुष्य आदि असमान-जातीय द्रव्य-पर्याय को टिकाने में कारणभूत आयुष्क कर्म की उत्तर-प्रकृतिआँ, चार हैं—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव आयुष्क। मुख्यतया जिन संयोगों में इनका उदय चलता रहता है, मनुष्य आदि पर्यायें टिकीं रहतीं हैं, वे सभी इसके नोकर्म हैं। नरक आयुष्क के नोकर्म, अनिष्ट भोजन आदि हैं। तिर्यंच आयुष्क के नोकर्म, शरीर के लिए अनुकूल यथा-योग्य घास, पत्ती, खली, अन्न, जल आदि हैं। मनुष्य आयुष्क के नोकर्म, शरीर के लिए अनुकूल सात्त्विक भोजन, जल आदि हैं। देव आयुष्क के नोकर्म मानसिक आहार आदि हैं।

जिनागम में चारों गतिओं की अपेक्षा मुख्य रूप से छह प्रकार के आहार प्रसिद्ध हैं—कर्माहार, नोकर्माहार, ओजाहार, लेपाहार, मानसिक आहार और कवलाहार।

इनमें से नारकी जीवों के कर्माहार की मुख्यता है, केवली भगवान के नोकर्माहार है, एकेंद्रिय वनस्पति-कायिक के लेपाहार की मुख्यता है, अण्डज जीवों के अण्डस्थ दशा में ओजाहार की मुख्यता है, देवों में मानसिक आहार की मुख्यता है, शेष मनुष्य-पंचेंद्रिय आदि तिर्यंचों में कवलाहार की मुख्यता है; गौण रूप से यथा-योग्य अन्य भी होते हैं।

शरीर आदि की संरचना आदि में निमित्तभूत नामकर्म की तेरानबै उत्तर-प्रकृतिओं में से गति के चार भेद हैं—नरक, तिर्यंच, मनुष्य

और देवगति। इनके अपने-अपने क्षेत्र ही इनके नोकर्म हैं। इनका वर्णन अगली गाथा में करेंगे।

प्रश्न १८ : आयुष्क कर्म के नोकर्म समझने से क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से प्रमुख लाभ यह है कि शरीर की आवश्यकता के अनुसार, शरीर को स्थिर रखने के लिए अनुकूल भोजन चाहिए, हमारी इच्छा या रसना इंद्रिय आदि की पुष्टि के अनुसार नहीं—यह समझ में आ जाने पर शरीर के प्रति अन्याय नहीं करते हुए मात्र उसकी आवश्यकता के अनुसार यदि उसे शुद्ध सात्त्विक भोजन-पान आदि देते हैं तो वह तो स्वस्थ रहता ही है, हम भी व्यर्थ की आकुलता से बच जाते हैं। अन्याय, अनीति, अभक्ष्य-भक्षण, इंद्रिय विषय-पोषण आदि पापों से बच जाते हैं। परिणामों में विशुद्धि बनी रहती है। अधिक आरंभ-परिग्रह से बच जाते हैं। शरीर की वास्तविक आवश्यकता की न्याय-नीति पूर्वक पूर्ति कर शेष बचे हुए समय को आत्म-कल्याण-कारी कार्यों में लगा सकते हैं। जिससे अपनी वृत्ति अहिंसक-अपरिग्रहमई बनकर जीवन ज्ञानानंदमय हो जाता है।

इत्यादि लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १९ : ७९ से ८३ पर्यंत ५ गाथाओं के माध्यम से नामकर्म के नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उन्हें बताने वाली वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

णिरयादीण गदीणं, णिरयादी खेत्तयं हवे णियमा।
जाईए णोकम्मं, दव्विंदियपोग्गलं होदि।।७९।।
एइंदिय-मादीणं, सग-सग-दव्विंदियाणि णोकम्मं।
देहस्स य णोकम्मं, देहुदयज-देहखंधाणि।।८०।।
ओरालिय-वेगुव्विय-आहारय-तेज-कम्म-णोकम्मं।
ताणुदयज-चउ-देहा, कम्मे विस्संचयं णियमा।।८१।।
बंधण-पहुदि-समण्णिय-सेसाणं देहमेव णोकम्मं।
णवरि विसेसं जाणे, सगखेत्तं आणुपुव्वीणं।।८२।।
थिर-जुम्मस्स थिराथिर-रस-रुहिरादीणि सुह-जुगस्स सुहं।
असुहं देहावयवं, सर-परिणद-पोग्गलाणि सरे।।८३।।

नारक आदि गतिओं के, नरकादि क्षेत्र नोकर्म कहे।
पुद्गलमय द्रव्येंद्रिय रचना, जाति कर्म नोकर्म कहे।।७९।।
एकेंद्रिय आदि की स्व-स्व, द्रव्येंद्रिय नोकर्म कहे।
देहोदय से रचित देह ही, देहकर्म नोकर्म कहे।।८०।।
औदारिक वैक्रियिक और आहारक तैजस से निर्मित।
देह कहा नोकर्म, कार्मण विश्रसोपचय यथा भरित।।८१।।
बंधन से संतावन, शेष अठारह का शरीर नोकर्म।
विशेष यह गत्यानुपूर्वि का अपना क्षेत्र कहा नोकर्म।।८२।।
स्थिर-अस्थिर रस-रुधिरादि, स्थिरद्विक शुभद्विक देहांग।
कहे शुभाशुभ स्वर परिणत हैं, पुद्गल स्वर द्विक के नोकर्म।।८३।।

शब्दश: अर्थ : **णिरय+आदीण**=नरक आदि, **गदीणं**=गतिओं का, **णिरय+आदी**=नरक आदि, **खेत्तयं**=क्षेत्र, **हवे**=होता है, **णियमा**=नियम से, **जाईए**=जाति का, **णोकम्मं**=नोकर्म, **दव्विंदिय-पोग्गलं**=द्रव्येंद्रियरूप पुद्गल, **होदि**=होता है।।७९।।

एइंदियं+आदीणं=एकेंद्रिय आदि के, **सग-सग**=अपनी-अपनी, **दव्विंदियाणि**=द्रव्येंद्रियाँ, **णोकम्मं**=नोकर्म, **देहस्स**=देह/शरीर के, **य**=और, **णोकम्मं**=नोकर्म, **देह+उदयज**=देह के उदय से उत्पन्न, **देहखंधाणि**=देहरूप स्कंध।।८०।।

ओरालिय=औदारिक, **वेगुव्विय**=वैक्रियिक, **आहारय**= आहारक, **तेज**=तैजस, **कम्म**=कर्म के, **णोकम्मं**=नोकर्म, **ताण+उदयज**=उनके उदय से उत्पन्न, **चउदेहा**=चार देह, **कम्मे**=कर्म के, **विस्संचयं**=विश्रसोपचय, **णियमा**=नियम से।।८१।।

बंधणपहुदि=बंधन से लेकर, **समण्णिय**=समन्वित/मिलाकर, **सेसाणं**=शेष के, **देह+एव**=देह ही, **णोकम्मं**=नोकर्म, **णवरि**=परन्तु, **विसेसं**=विशेष, **जाणे**=जानो, **सगखेत्तं**=अपना क्षेत्र, **आणुपुव्वीणं**= आनुपूर्वी के।।८२।।

थिरजुम्मस्स=स्थिर युगल के, **थिर+अथिर**=स्थिर-अस्थिर, **रसरुधिर+आदीणि**=रस-रुधिर आदि, **सुहजुगस्स**=शुभ-युगल के, **सुहं**=शुभ, **असुहं**=अशुभ, **देह+अवयवं**=देह के अवयव, **सरपरिणद** =स्वररूप से परिणत, **पोग्गलाणि**=पुद्गल, **सरे**=स्वर युगल के।।८३।।

अन्वय : णिरयआदी खेत्तयं णियमा णिरय आदीण गदीणं कम्मं हवे

दव्विंदियपोग्गलं जाईए णोकम्मं होदि।

सगसग दव्विंदियाणि एइंदियं आदीणं णोकम्मं य देह उदयज देह खंधाणि देहस्स णोकम्मं।

ताण ओरालिय वेगुव्विय आहारय तेज उदयज चउदेहा ओरालिय वेगुव्विय आहार तेज णोकम्मं कम्मे विस्संचयं णियमा कम्म णोकम्मं।

बंधणपहुदिसमण्णियसेसाणं देहं एव णोकम्मं णवरि विसेसं आणु-पुव्वीणं सगखेत्तं णोकम्मं जाणे।

थिर रस रुहिर आदीणि अथिर रस रुहिर आदीणि थिर जुम्मस्स सुहं देह-अवयवं असुहं देह-अवयवं सुहजुगस्स सरपरिणदपोग्गलाणि सरे।

सरलार्थ : नरक आदि गतिओं के नोकर्म नियम से नरक आदि क्षेत्र हैं। जाति के नोकर्म द्रव्येंद्रिय रूप पुद्गल हैं।

एकेंद्रिय आदि के नोकर्म अपनी-अपनी द्रव्येंद्रियाँ हैं। शरीर के नोकर्म, शरीर नामक नामकर्म के उदय से उत्पन्न शरीररूप स्कंध हैं।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस शरीर नामक नामकर्म के नोकर्म, उन-उन संबंधी कर्म के उदय में उत्पन्न, चार शरीर हैं। कार्मण शरीर नामक नामकर्म के नोकर्म, नियम से विश्रसोपचय हैं।

बंधन नामक नामकर्म से लेकर शेष रहीं (पुद्गल-विपाकी ५७ प्रकृतिओं का) तथा शेष (जीव-विपाकी १८ प्रकृतिओं) को मिलाकर सभी का (५७+१८=७५ प्रकृतिओं का) शरीर ही नोकर्म है; परन्तु विशेषता इतनी जानना कि आनुपूर्वी का नोकर्म, उसका अपना क्षेत्र है।

स्थिर-युगल के नोकर्म, क्रमशः स्थिर-अस्थिर रस, रुधिर आदि हैं; शुभ-युगल के शरीर संबंधी शुभ-अशुभ अवयव तथा स्वर-युगल के स्वर रूप से परिणत पुद्गल, नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप हैं।

स्पष्टीकरण : शरीर आदि की संरचना आदि में निमित्तभूत नामकर्म की तेरानबे प्रकृतिओं के नोकर्म की चर्चा, गति नामक नामकर्म के नोकर्म की चर्चा के रूप में अठत्तरवीं गाथा के उत्तरार्ध से प्रारंभ हो गई है। इन पाँच गाथाओं द्वारा उसे ही पूर्ण किया गया है। नरक-गति आदि के नोकर्म, नरक आदि क्षेत्र हैं अर्थात् नरक-गति नामकर्म के नोकर्म, त्रसनाडी संबंधी तीन-लोक के अधोभागरूप सात पृथ्विओं

में स्थित चौरासी लाख नरक-बिल रूप क्षेत्र हैं। तिर्यंच-गति का नोकर्म, त्रस जीवों की अपेक्षा मुख्यता तिर्यक्लोक तथा स्थावर जीवों की अपेक्षा सर्व-लोक रूप क्षेत्र है। मनुष्य-गति का नोकर्म, मुख्यतया तिर्यक् लोक में पैंतालीस लाख योजन विस्तृत मनुष्य-लोक क्षेत्र है। देव-गति का नोकर्म, रत्नप्रभा पृथ्वी के पंक-भाग से लेकर आठवीं पृथ्वी के नीचे पर्यंत समस्त ऊर्ध्व-लोक क्षेत्र है।

जाति नामक नामकर्म की नोकर्म, पौद्गलिक द्रव्येंद्रियाँ हैं। एकेंद्रिय जाति नामकर्म की नोकर्म, शरीराकार परिणमित स्पर्शन रूप द्रव्येंद्रिय है। दो इंद्रिय जाति की नोकर्म, स्पर्शन-रसनारूप परिणत द्रव्येंद्रिय हैं। तीन इंद्रिय जाति की नोकर्म, स्पर्शन-रसना-घ्राण रूप परिणत द्रव्येंद्रिय हैं। चार इंद्रिय जाति की नोकर्म, स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षुरूप परिणत द्रव्येन्द्रिय हैं। पाँच इंद्रिय जाति की नोकर्म, स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु-कर्ण रूप परिणत द्रव्येंद्रिय हैं।

शरीर नामक नामकर्म के नोकर्म, इसके ही उदय में उत्पन्न, शरीर-स्कंध हैं। औदारिक नामकर्म का नोकर्म, औदारिक शरीर; वैक्रियिक का, वैक्रियिक; आहारक का, आहारक और तैजस नामकर्म का नोकर्म, तैजस शरीर है। कार्मण शरीर नामकर्म के नोकर्म, स्वभाव से ही एकत्रित तथा कर्मरूप से परिणमित होने की योग्यतावाले कार्मण वर्गणा रूप विश्रसोपचय हैं।

पुद्गल-विपाकी ६२ प्रकृतिओं में से ५ शरीर के नोकर्म बता दिए हैं। शेष रहीं ५ बंधन, ५ संघात, ३ अंगोपांग, ६ संस्थान, ६ संहनन, ५ वर्ण, २ गंध, ५ रस और ८ स्पर्श—इन ५७ प्रकृतिओं का नोकर्म, शरीर ही है। इसीप्रकार जीव विपाकी ७८ प्रकृतिओं में से ५ ज्ञानावरण, ९ दर्शनावरण, २ वेदनीय, २८ मोहनीय, नामकर्म की ४ गति और ५ जाति—इन ५७ प्रकृतिओं के नोकर्म तो पहले बता दिए गए हैं। शेष रहीं उच्छ्वास, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, तीर्थंकर—नामकर्म की इन १८ प्रकृतिओं का नोकर्म, सामान्य कथन में शरीर है। इसप्रकार ५७ और १८—इन ७५ प्रकृतिओं का नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप,

सामान्य कथन में शरीर ही है।

विशेष कथन यह है कि मात्र विग्रहगति में ही उदय होने-योग्य नरक-गत्यानुपूर्वी, तिर्यंच-गत्यानुपूर्वी, मनुष्य-गत्यानुपूर्वी और देव-गत्यानुपूर्वी—इन ४ आनुपूर्वी नामक नामकर्म के नोकर्म, उनके अपने-अपने विग्रहगति के क्षेत्र हैं। स्थिर और अस्थिर नामक नामकर्म के नोकर्म, क्रमश: स्थिर और अस्थिर रूप से परिणत रस, रुधिर आदि धातु-उपधातु हैं। शुभ और अशुभ नामकर्म के नोकर्म, शरीर के क्रमश: शुभ और अशुभ अवयव हैं। सुस्वर और दु:स्वर नामकर्म के नोकर्म, स्वर रूप से परिणत भाषा-वर्गणा के पुद्गल हैं।

इसप्रकार नामकर्म की अधिकांश प्रकृतिओं का नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप, शरीर ही है।

प्रश्न १०० : कार्मण शरीर का नोकर्म, विश्रसोपचय है—इसे विस्तार से स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : विश्रसा=स्वभाव से, उपचय=इकट्ठा हुआ। अपने स्वभाव से ही एकत्रित, कर्मरूप से परिणमन के योग्य कार्मण-वर्गणाएं, विश्रसोपचय कहलाती हैं। इन कार्मण-वर्गणाओं और कार्मण-शरीर में कुछ अंतर है; जो इसप्रकार है—

१.कार्मण-शरीर नामक नामकर्म, पूर्व-बद्ध कर्मों का उदय रूप कार्य है; परंतु यह विश्रसोपचय, कर्म का कार्य नहीं है; जीव के विकारी परिणामों का निमित्त पाकर कर्म रूप परिणमन की योग्यतावाला समूह है।

२.कार्मण शरीर, नामकर्म की एक प्रकृति होने से अंश है; परन्तु विश्रसोपचय में सभी प्रकृतिओं की योग्यता विद्यमान है।

३.कार्मण शरीर, पुद्गल-विपाकी पुण्य प्रकृति है, जबकि विश्रसोपचय में विपाक के सभी भेद गर्भित हैं।

४.कार्मण शरीर, द्रव्यकर्मरूप है; जबकि विश्रसोपचय को अभी द्रव्यकर्म नहीं कह सकते हैं।

इसप्रकार सजातीय होने पर भी दोनों पृथक्-पृथक् होने से विश्रसोपचय, कार्मण शरीर का नोकर्म बन जाता है।

प्रश्न १०१ : ५ गाथा वाले इस प्रकरण को समझने से क्या लाभ है?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.ये मनुष्य-लोक आदि क्षेत्र, मनुष्य-गति नामकर्म के नोकर्म हैं—यह समझ में आ जाने पर इन्हें अपना न मानते हुए, इनमें ममत्व न करते हुए, इनसे सतत भेद-विज्ञान कर, प्राप्त परिस्थिति का आत्म-कल्याण-कारी कार्यों में उपयोग करने का भाव जागृत होता है।

२.जैनधर्म में एकेंद्रिय आदि पाँच जातिआँ या इनके ही उत्तर भेद चौरासी लाख जातिआँ ही मान्य हैं; वर्तमान लोक-प्रचलित जातिआँ, धर्म-मान्य नहीं हैं—यह समझ में आ जाने पर वर्तमान जातिवाद के व्यामोह से उत्पन्न दीनता, हीनता, घमंड आदि विकृतिओं से हटकर/बचकर, प्राप्त जाति से भी भेद-विज्ञान कर, उसे कर्म-कृत मान, उसका आत्म-कल्याण-कारी कार्यों में उपयोग करने का भाव जागृत होता है।

३.प्राप्त शरीर भी नामकर्म का नोकर्म है, मेरा नहीं है, वह मैं नहीं हूँ—ऐसा भेद-विज्ञान करते हुए उसका उपयोग मोह-रागादि नष्ट करने के लिए करने का भाव जागृत होता है।

४.नामकर्म की सर्वाधिक प्रकृतिओं का नोकर्म, शरीर है अर्थात् शरीर की समग्र-व्यवस्था का निमित-नैमित्तिक संबंध, नामकर्म के साथ है; मेरे साथ नहीं है—यह समझ में आ जाने पर शरीर की ओर से पूर्ण निश्चिंत रहते हुए, उससे भेद-विज्ञान कर, उसकी प्रत्येक परिस्थिति को सहज स्वीकार करते हुए अपने में ही स्थिर रहने की दिशा में सतत पुरुषार्थ-रत रहने का भाव जागृत रहता है।

५.एक शरीर छूटने के बाद नवीन शरीर प्राप्त होने पर्यंत की सम्पूर्ण व्यवस्था, गत्यानुपूर्वी नामक नामकर्म के अधीन है, विग्रहगति का क्षेत्र ही उसका नोकर्म है—यह समझ में आ जाने पर तत्संबंधी विपरीत मान्यताओं से, श्राद्ध-तर्पण आदि विपरीत प्रवृत्तिओं/अविचारी-अनर्गल वृत्तिओं से बच जाते हैं।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १०२ : गाथा ८४ और ८५वीं के माध्यम से गोत्रकर्म और अंतराय कर्म के नोकर्म स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उन्हें बताने वाली वे गाथाएं इसप्रकार हैं—

उच्चस्सुच्चं देहं, णीचं णीचस्स होदि णोकम्मं।
दाणादि-चउक्काणं, विग्घग-णग-पुरिस-पहुदी हु।।८४।।

विरियस्स य णोकम्मं, रुक्खाहारादि बलहरं दव्वं।
इदि उत्तर-पयडीणं, णोकम्मं दव्वकम्मं तु।।८५।।

ऊँचा-नीचा देह आचरण क्रमशः गोत्र भेद नोकर्म।
दानादि चारों के पर्वत, पुरुषादि विघ्नक नोकर्म।।८४।।
रूखे आहारादि बलहारक पदार्थ जानो नोकर्म।
द्रव्यकर्म वीर्यान्तराय यों उत्तरकर्मप्रकृति नोकर्म।।८५।।

शब्दशः अर्थ : **उच्चस्स**=उच्च का, **उच्चं**=उच्च, **देहं**=शरीर, **णीचं**=नीच, **णीचस्स**=नीच का, **होदि**=होता है, **णोकम्मं**=नोकर्म, **दाण+आदि**=दान आदि, **चउक्काणं**=चार के, **विग्घग**=विघ्न करनेवाले, **णग**=पर्वत, **पुरिसपहुदी**=पुरुष आदि, **हु**=वास्तव में।।८४।।

विरियस्स=वीर्य का, **य**=और, **णोकम्मं**=नोकर्म, **रुक्ख+आहार+आदि**=रूक्ष आहार आदि, **बलहरं**=बल को हरनेवाले, **दव्वं**=द्रव्य, **इदि**=इसप्रकार, **उत्तरपयडीणं**=उत्तर-प्रकृतिओं के, **णोकम्मं**=नोकर्म, **दव्वकम्मं**=द्रव्यकर्म, **तु**=हैं।।८५।।

अन्वय : उच्चं देहं उच्चस्स णीचं देहं णीचस्स णोकम्मं हु विग्घग-णग-पुरिस-पहुदी दाण-आदि चउक्काणं णोकम्मं होदि।

रुक्ख-आहार-आदि-बलहरं दव्वं विरियस्स णोकम्मं तु इदि उत्तर-पयडीणं णोकम्मं दव्वकम्मं।

सरलार्थ : उच्च-गोत्र का, उच्च-शरीर और नीच-गोत्र का, नीच-शरीर, नोकर्म है। दान आदि चार अंतराय के नोकर्म, वास्तव में विघ्न करने वाले पर्वत, पुरुष आदि हैं।

वीर्य का नोकर्म, रूक्ष-आहार आदि, बल को नष्ट करनेवाला द्रव्य है। इसप्रकार उत्तर-प्रकृतिओं के नोकर्म द्रव्यकर्म हैं।

स्पष्टीकरण : जीव की उच्च-नीच प्रवृत्ति में निमित्त होनेवाले गोत्रकर्म की उत्तर-प्रकृतिआँ दो हैं—उच्च और नीच। उच्च-गोत्र के उदय में सहायक, निराकुलता तथा शारीरिक स्वास्थ्य-वर्धक शरीर की उच्च-प्रवृत्तिआँ, उच्च-गोत्र के नोकर्म हैं तथा नीच-गोत्र के उदय में सहायक, आकुलता और शारीरिक अस्वास्थ्य-वर्धक शरीर की नीच प्रवृत्तिआँ, नीच-गोत्र के नोकर्म हैं।

जीव के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य के घात में निमित्त

होनेवाले अंतराय कर्म की पाँच प्रकृतिआँ हैं। दान, लाभ, भोग और उपभोग सामग्री नहीं मिल पाने में, अन्तराय कर्म की इन संबंधी प्रकृतिओं के उदय में सहायक तथा अंतराय के क्षयोपशम में बाधक निमित्त पर्वत, पुरुष आदि अचेतन और चेतन पदार्थ, दानादि चार प्रकृतिओं के नोकर्म हैं। शारीरिक-बल आदि को क्षीण करने में निमित्तभूत रूखा-आहार आदि, तदनुकूल वातावरण, परिस्थितिआँ, संयोग आदि, वीर्यान्तराय कर्म के नोकर्म हैं।

इसप्रकार आठ मूल-प्रकृतिओं की एक सौ अड़तालीस उत्तर-प्रकृतिओं के नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप का यह प्रकरण पूर्ण हुआ।

प्रश्न १०३ : गोत्र और अंतराय कर्म के नोकर्म समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इस प्रकरण को समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ इसप्रकार हैं—

*१.*गोत्रकर्म के नोकर्म समझ में आ जाने से हमें बुद्धिपूर्वक किन प्रवृत्तिओं को अपनाना तथा किन प्रवृत्तिओं को छोड़ना—इसका सद्-विवेक जागृत होता है।

२.हमारे दानादि में बाधक दिखाई देनेवाले पदार्थ वास्तव में हमारे साथ संबंधित नहीं हैं, वे तो अंतराय कर्म के नोकर्म हैं—यह समझ में आ जाने पर उन बाह्य पदार्थों पर दोषारोपण करने का भाव नष्ट होकर, प्राप्त परिस्थिति को सहज स्वीकार कर, उससे भेद-विज्ञान करने का भाव जागृत होता है।

३.इसी समझ के बल पर तनाव नहीं बड़ने से जीवन सहज समतामय हो जाता है।

४.वीर्यान्तराय के नोकर्म समझने से भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक जागृत होता है, जिससे अभक्ष्य सेवन के त्याग पूर्वक जीवन शुद्ध, सात्त्विक, स्वस्थ हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १०४ : गाथा ८६वीं के माध्यम से नो आगमभाव निक्षेप को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उसे बताने वाली वह गाथा इसप्रकार है—

णोआगमभावो पुण, सगसगकम्मफलसंजुदो जीवो।
पोग्गलविवाइयाणं णत्थि खु णो आगमोभावो।।८६।।
अपने-अपने कर्म फलों से, सहित जीव नो आगमभाव।
पुद्गल विपाकमय प्रकृति के, ना होते नो आगमभाव।।८६।।

शब्दश: अर्थ : **णोआगमभावो**=नो आगमभाव, **पुण**=अब, **सगसग**=अपने-अपने, **कम्मफलसंजुदो**=कर्मफल से संयुक्त, **जीवो**= जीव, **पोग्गलविवाइयाणं**=पुद्गल विपाकी के, **णत्थि**=नहीं हैं, **खु**=वास्तव में, **णोआगमो**=नो आगम, **भावो**=भाव।।८६।।

अन्वय : पुण सगसगकम्मफलसंजुदो जीवो णोआगमभावो खु पुग्गल-विवाइयाणं णोआगमो भावो णत्थि।

सरलार्थ : अपने-अपने कर्म-फल से संयुक्त जीव, नो आगमभाव कहलाता है। वास्तव में पुद्गल विपाकी प्रकृतिओं के नो आगमभाव नहीं होते हैं।

स्पष्टीकरण : यहाँ भाव निक्षेप के दूसरे भेद, कर्म संबंधी नो आगमभाव निक्षेप का वर्णन है। अपने-अपने कर्म के फल से संयुक्त जीव, नो आगमभाव निक्षेप है। जैसे—ज्ञानावरण के उदयरूप फल में अज्ञानी होता हुआ जीव, नो आगमभाव निक्षेप है। मतिज्ञानावरण के कुछ क्षयोपशमरूप फल में तद्नुसार क्षायोपशमिक ज्ञानी होता हुआ जीव, नो आगमभाव निक्षेप है। इसी प्रकार अन्य प्रकृतिओं में भी घटित कर लेना चाहिए।

विशेषता यह है कि पुद्गल विपाकी शरीर आदि ६२ प्रकृतिओं के उदय का निमित्त-नैमित्तिक संबंध, शरीर के साथ ही है; जीव के साथ नहीं है; इसलिए उन प्रकृतिओं का नो आगमभाव निक्षेप नहीं है।

प्रश्न १०५ : नो आगमभाव निक्षेप समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१.कर्म के उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम के समय होनेवाली जीव की औदयिक, औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक रूप दशाएं, कर्म संबंधी नो आगमभाव निक्षेप होने के कारण कर्मकृत हैं; जीवकृत नहीं हैं। वे जीव के स्वभाव भाव नहीं हैं; अत: प्राप्त अवस्था को सहज स्वीकार कर, उससे सतत भेद-ज्ञान करते हुए

अपने त्रिकाली ज्ञानानंद-स्वभाव में ही संतुष्ट रहना श्रेयस्कर है।

२.जब ये चारों भाव, कर्म-कृत हैं तो किसे अच्छा मानूँ और किसे बुरा?—इस विवेक के बल पर दीनता, हीनता, घमंड, उच्च, नीच आदि विकृत परिणाम नष्ट होकर जीवन, सहज समतामय हो जाता है।

३.इसी समझ के बल पर पर्याय मात्र के प्रति उपेक्षा/उदासीनता का भाव जागृत होता है; जिससे भूमिकानुसार मोह, राग, द्वेष नष्ट होकर जीवन, सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न अतींद्रिय आनंदमय हो जाता है।

४.वास्तव में पुद्गलविपाकी शरीर, संस्थान, संहनन आदि ६२ प्रकृतिओं का फल तो हमें भोगना ही नहीं पड़ता है; इनके नो आगमभाव निक्षेप ही नहीं हैं—यह समझ में आ जाने पर इनके प्रति के निरर्थक राग-द्वेष समाप्त हो जाते हैं; देह-बुद्धि नष्ट होकर, आत्म-बुद्धि जागृत होती है। अपने आप ही सभी वृत्तिआँ-प्रवृत्तिआँ आत्मनिष्ठ हो जाती हैं। जिससे प्राप्त परिस्थिति को सहज स्वीकार कर जीवन सहज समता, समाधिमय हो जाता है। देह की रोग, निरोग, संयोग, वियोग आदि सभी स्थितिओं में हमारी परिणति निर्भय, निराकुल बनी रहती है; जिससे समाधि की समग्र साधना सहज हो जाती है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

इसप्रकार कर्म संबंधी निक्षेप के भेद-प्रभेदों का प्रकरण पूर्ण हुआ।

इसप्रकार द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूप कर्मों के काण्डों/समूहों को नष्ट करने के उपाय का विवेचन करनेवाली, प्रथम प्रकृतिसमुत्कीर्तन अधिकार की गोम्मटसार कर्मकाण्ड विवेचिका पूर्ण हुई। 卐

कुछ नवीन करो !!

"मिच्छत्त-पहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं।
सम्मत्त-पहुदिभावा अभाविया होंति जीवेण।।नि.९०।।
मिथ्यात्व आदि भाव की की जीव ने चिर भावना।
सम्यक्त्व आदि भाव की पर की कभी न प्रभावना।।नि.९०।।

इस जीव ने पूर्व में चिर-काल से मिथ्यात्व आदि भाव भाए हैं; परन्तु इसने सम्यक्त्व आदि भाव नहीं भाए हैं।।"

अत: अब इन्हें प्रगट करने का आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ करो।

अपराधी कौन ???

— कल्पना जैन, सागर

भूमिका : सैनी पंचेंद्रिय, पर्याप्तक, मिथ्यादृष्टि, मनुष्य पर्याय वाला कोई एक जीव, सब ओर से अत्यंत भयंकर, हृदय विदारक दु:ख भोगता हुआ यहाँ-वहाँ भटकता फिर रहा है।

जैसे—असावधानी पूर्वक चलने के कारण स्वयं जमीन पर गिर जाने से रोते हुए नादान बालक को शांत करने-हेतु माँ उसके सामने, यह कहकर जमीन को पीट देती है कि इसने मेरे लाड़ले को गिराया है। जमीन को पिटता देखकर वह नादान बालक भी चुप हो प्रसन्न हो जाता है।

उसी प्रकार किसी ने इस जीव को समझाया कि कर्म तुम्हें दु:ख दे रहे हैं; तुम कर्मों से परेशान हो – यह सुनकर उसने वास्तव में ही अपने दु:खों का कारण कर्म को मान लिया।

यद्यपि जिनागम में भी जीव के दु:खों का कारण अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से कर्म का उदय बताया गया है; तथापि वह तो मात्र सहचर निमित्त का ज्ञान कराने के लिए है।

यह जीव अपनी अज्ञानता-वश बाह्य में दृष्टि-गोचर पदार्थों को सुख-दु:ख का कारण मानकर उन्हें मिलाने या हटाने की उधेड़-बुन में व्यर्थ ही अस्त-व्यस्त-त्रस्त रहता है; जबकि वे इसके सुख-दु:ख में वास्तविक निमित्त भी नहीं हैं। वे तो इन सभी के कदाचित् मात्र नोकर्म हो सकते हैं; अत: उन संबंधी राग-द्वेष की वृत्ति नष्ट करने के लिए जिनागम में कर्मों का विवेचन किया गया है।

इस अज्ञानी जीव को यह ज्ञान तो है नहीं; अत: यह तो सतत कर्मों को ही कोसता फिरता है। दु:ख असह्य हो जाने पर यह कभी-कभी तो अपना रोना/दुखड़ा भगवान को भी सुनाकर अपना दु:ख व्यक्त करता है। इस संबंध में ज्ञानिओं द्वारा लिखित स्तुतिओं आदि की विवक्षा नहीं समझकर अपनी अज्ञानता-वश उनका दुरुपयोगकर यह अपने एकांत मिथ्यात्व को पुष्ट करता रहता है। एक बार इसी प्रकार का एक दुखी व्यक्ति पण्डित भूधरदासजी कृत देव-स्तुति का

सहारा ले, अत्यन्त दयनीय विगलित हृदय से भगवान को अपनी दशा बताते हुए कहता है कि –

''अहो जगत गुरुदेव सुनिए अरज हमारी।
तुम प्रभु दीन दयाल, मैं दुखिया संसारी ।।१।।
इस भव वन के माँहि, काल अनादि गमायौ।
भ्रम्यो चहूँगति माँहि, सुख नहिं दुख बहु पायौ ।।२।।
कर्म महारिपु जोर, एक न कान करें जी।
मनमाने दुख देहिं, काहु सौं नाहिं डरैं जी ।।३।।
कबहूँ इतर निगोद, कबहूँ नरक दिखावैं।
सुर नर पशु गति माँहि, बहुविध नाच नचावैं ।।४।।
प्रभु ! इनकौ परसंग, भव-भव माँहि बुरौ जी।
जो दुख देखे देव, तुमसौं नाँहि दुरौ जी ।।५।।
एक जनम की बात, कहि न सकौं सुनि स्वामी।
तुम अनंत परजाय, जानत अंतरजामी ।।६।।
मैं तो एक अनाथ, ये मिल दुष्ट घनेरे।
कियो बहुत बेहाल, सुनिए साहिब मेरे ।।७।।
ज्ञान महानिधि लूट, रंक निबल करि डारयौ।
इनही तुम मुझ माँहि, हे जिन! अंतर पारयौ ।।८।।
पाप-पुण्य मिल दोय, पायनि बेड़ी डारी।
तन कारागृह माँहि, मोय दियो दुख भारी ।।९।।
इनकौ नेकु बिगार, मैं कछु नाहिं कियौ जी।
बिन कारन जगबंधु! बहुविध बैर लियौ जी ।।१०।।
अब आयौ तुम पास, सुनि जिन! सुजस तिहारौ।
नीति निपुन जगराय, कीजे न्याय हमारौ ।।११।।
दुष्टन देहु निकार, साधुन कौं रखि लीजे।
विनबैं 'भूधरदास' हे प्रभु ! ढील न कीजै ।।१२।।''

भगवान तो पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ हैं। उन्हें इसकी यथार्थ स्थिति भली-भाँति ज्ञात होने पर भी स्वरूपस्थ होने के कारण वे तो कुछ बोलते नहीं हैं; टोकते या बताते नहीं हैं; अत: इसने तो प्रतिदिन ही यह सुनाने की आदत बना ली। भगवान के सामने प्रतिदिन इसे

पढ़कर यह ऐसा मानकर संतुष्ट हो जाता है कि अब मेरे सब दु:ख नष्ट हो जाएंगे; परंतु भगवान तो इसे सुखी करने वाले हैं नहीं; अत: इसे निराशा ही हाथ लगती है।

प्रतिदिन-संबंधी इसके इस कार्यक्रम को देखते-देखते एक बार किन्हीं ज्ञानी धर्मात्मा ने अत्यंत सहृदयता पूर्वक इसे समझाते हुए कहा कि भैया ! यह क्या कर रहे हैं आप ?

उसने अत्यंत खेदित, निराश मन से उत्तर दिया कि भाईजी ! कर्म मुझे अत्यधिक परेशान कर रहे हैं। उनसे मैं बहुत दुखी हूँ। मैं प्रतिदिन भगवान से यह कह रहा हूँ; परंतु वे मुझ पर कुछ ध्यान ही नहीं दे रहे हैं। मेरे लिए कुछ कर ही नहीं रहे हैं। मेरा तो धैर्य ही समाप्त हो रहा है। मैं क्या करूँ ? मुझसे अब ये दु:ख सहे नहीं जाते हैं। मैं बहुत व्याकुल हूँ। आप ही मेरे दु:ख को मिटाने का कुछ उपाय कीजिए।

इस संदर्भ में इन दोनों का वार्तालाप ही यहाँ प्रस्तुत है—

धर्मात्मा : भैया ! ऐसा नहीं है। आपको भ्रम हो गया है कि कर्म मुझे परेशान कर रहे हैं; परन्तु वास्तव में वे ऐसा कैसे कर सकते हैं?

पहले मैं भी जब आपके समान था, तब मुझे भी ऐसा ही लगता था कि ये कर्म ही मुझे दुखी कर रहे हैं; परन्तु सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य पाने के बाद वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझ लेने के कारण मुझे अपने दु:ख का यथार्थ रहस्य ज्ञात हो गया है। अब मैं अपने पुरुषार्थानुसार काफी कुछ सुखी हूँ। शेष रहा दु:ख भी कर्म के कारण नहीं हैं; स्वयं मेरी कमजोरी/स्वरूप-अस्थिरता के कारण है। आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ पूर्वक पूर्ण स्थिरता होने पर वह दु:ख भी नष्ट हो मैं, पूर्ण सुखी हो जाऊँगा।

भाई ! जरा गम्भीरता से विचार तो कीजिए !! कर्म, आपको दुखी कैसे कर सकते हैं ?

दुखी : क्यों नहीं कर सकते हैं? कर सकते क्या? कर ही रहे हैं न !! अरे ! अकेले हमें ही क्या? सभी संसारिओं को दुखी कर रहे हैं। चार गति, चौरासी लाख योनिओं में भटकने वाले किसी भी जीव से पूछ लीजिए; सभी का एक ही उत्तर होगा कि कर्म हमें बहुत दु:ख दे रहे हैं; हम कर्मों के सताए हैं।

धर्मात्मा : भाई ! यह समस्या पूछने-पाछने से सुलझने वाली नहीं है। यह तो मात्र समझ से ही सुलझेगी। आप इतने अधीर-व्यग्र नहीं हों !! समझ से काम लें !!! आप तो प्रतिदिन देव-शास्त्र-गुरु के दर्शन-पूजन आदि करते हैं; स्वाध्याय, सामायिक आदि भी करते हैं। जरा बताइए तो सही ! कर्म किसे कहते हैं ?

दुखी : जीव के विकारी भावों की निमित्तता में हुए कार्मण वर्गणा के विशिष्ट परिणमन को कर्म कहते हैं।

धर्मात्मा : बहुत अच्छा ! क्या जीव के रागादि भावों का निमित्त पाए विना भी कार्मण-वर्गणा कर्मरूप से बदल सकती है ?

दुखी : नहीं। यदि उनके विना भी बदल जाए तो वह उनका स्वभाव हो जाएगा। सिद्ध भगवान के प्रदेशों में विद्यमान कार्मण-वर्गणा भी स्वयमेव कर्म रूप से बदल जाएगी। इससे भी बड़ी बात तो यह होगी कि फिर कौन-सा कर्म, किसका कहलाएगा ? किसका फल, किसे मिलेगा ? कर्म संबंधी सम्पूर्ण व्यवस्था ही अव्यवस्थित हो जाएगी।

धर्मात्मा : बहुत अच्छा ! आप बहुत समझदार हैं। आपने वास्तविक तथ्य को ग्रहण किया है।

दुखी : इन कर्मों से ही तो मैं और सभी संसारी जीव दुखी हैं। इन्हें नष्ट करने की प्रार्थना ही तो भगवान से कर रहा हूँ; परंतु भगवान कुछ ध्यान ही नहीं दे रहे हैं।

धर्मात्मा : घबराइए नहीं। इस पर भी हम इसी प्रकार गंभीरता पूर्वक विचार करते हैं। कर्म के भेद-प्रभेद तो आपको ज्ञात ही होंगे।

दुखी : हाँ हाँ !! क्यों नहीं !! अरे मैंने गोम्मटसारजी की परीक्षा दी है। प्रावीण्य श्रेणी/मेरिट लिस्ट में पास हो पुरस्कार और खूब वाहवाही भी प्राप्त की है। कर्मों के मूल आठ भेदों में से ज्ञानावरण के ५, दर्शनावरण के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के २८, आयुष्क के ४, नाम-कर्म के ९३, गोत्र-कर्म के २, अन्तराय के ५—इसप्रकार सभी के मिलकर कुल १४८ उत्तर भेद हैं। इनके भी विविध दृष्टिओं से घाति-अघाति, प्रशस्त-अप्रशस्त, जीव-विपाकी आदि, निरंतर-सांतर बंधी, प्रतिपक्षी-अप्रतिपक्षी इत्यादि अनेक रूपों में विभाजन हो जाते हैं। गुणस्थान, मार्गणास्थान के अनुसार इनकी बंध-त्रिभंगी

आदि भी मुझे कंठस्थ हैं। इन सबसे मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है कि कर्म जीव को बहुत रुलाते हैं। मैं स्वयं इसका भुक्त-भोगी भी हूँ।
धर्मात्मा : अरे वाह ! आप तो बहुत जानकार हैं !! अच्छा अब हम ऐसा करते हैं कि कर्म हमें क्यों, कैसे दुखी करते हैं ? इत्यादि का निर्णय करने के लिए प्रत्येक कर्म पर पृथक्-पृथक् चर्चा करते हैं। उनमें से सर्व-प्रथम ज्ञानावरण पर ही विचार करते हैं –

१.मूल बात तो यह है कि पुद्‌गल का परिणमन होने से जड़ होने के कारण न तो यह स्वयं को जानता है और न दूसरों को। जब यह हमें जानता ही नहीं है, तब फिर हैरान कैसे करेगा ?

२.दूसरी बात यह है कि विना निमंत्रण के यह नहीं आता है / अकारण ही अपने आप आकर हमसे बँध जाता हो—ऐसा नहीं है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योगरूप निमंत्रण दे-देकर हम ही उन्हें ससम्मान बुलाते हैं। अपने/जीव के विकारी भावों का निमित्त पाकर ही यह बँधता है। यदि हमें लगता है कि हम इससे बहुत परेशान हैं तो इसे निमंत्रित नहीं करें/मोहादि विकारी भाव नहीं करें। जिससे यह नहीं आएगा; नहीं बँधेगा।

३.वास्तव में इसकी कोई भी दशा या इसके उदयादि की निमित्तता में होने वाली जीव की अज्ञानादि कोई भी दशा जीव के लिए बंध या मोक्ष में कारण नहीं है, संसार को बड़ाने या घटाने में कारण नहीं है; अत: यह दु:ख-सुख का वास्तविक निमित्त भी नहीं है।

४.ज्ञानावरण संबंधी किसी भी दशा की निमित्तता में हुए जीव के नैमित्तिक भावों से न तो इस कर्म का ही बंध होता है और न किसी अन्य कर्म का; अर्थात् यह, नवीन कर्म-बंध में निमित्त नहीं है; इससे कर्मों की वंश-परम्परा नहीं चलती है।

५.वास्तव में तो इस ज्ञानावरण कर्म का निमित्त-नैमित्तिक संबंध, जीव के ज्ञान गुण की मात्र एक-एक समयवर्ती पर्याय के साथ ही है; अपने शाश्वत स्वभाव के साथ इसका कुछ भी संबंध नहीं है। इसका आत्मा पर कुछ भी असर नहीं है। अनन्त-वैभव-संपन्न यह शाश्वत स्वभाव तो अपनी विकारी-अविकारी पर्यायों से भी पूर्णतया अप्रभावित रहता है; तब फिर यह, कर्म से प्रभावित कैसे हो सकता है? अपनी

वास्तविक सत्ता तो यह ज्ञानानंद-स्वभावी शाश्वत भगवान आत्मा है। कर्म से सर्वथा अगम्य इसे, यह कर्म दुखी कैसे कर सकता है?

६.वास्तविकता तो यह है कि अनादि से ही हमें तो अपनी ज्ञान-निधि की कुछ सुध-बुघ नहीं है। इस ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की निमित्तता में व्यक्त हुए ज्ञान से ही हमारी सत्ता का बोध होता है तथा कुछ समझ विकसित होने पर मोक्षमार्ग प्रगट करने के लिए पुरुषार्थ करने-हेतु यही साधन है।

इस दृष्टि से विचार करने पर तो ऐसा लगता है कि अपनी नादान स्थिति संबंधी उद्दंडताओं के काल में भी इस संबंधी नैमित्तिक कार्य ज्ञान की उपलब्धि को देखते हुए हमें इसके प्रति आभार व्यक्त करना चाहिए; परंतु हम तो इसके विपरीत, इसे अपराधी घोषित कर इसका अपमान कर रहे हैं। क्या यह हमारी सज्जनता है?

बताइए भाईसाब ! इन सब तथ्यों में कुछ सत्यता है।

दुखी : भाईजी ! मैंने तो कभी इस पर इसप्रकार से विचार ही नहीं किया। इन सबसे तो लगता है कि ज्ञानावरण का तो कोई अपराध ही नहीं है। वह तो सर्वांग निरपराधी ही प्रतीत हो रहा है। इससे तो मैं ही अपराधी सिद्ध हो रहा हूँ।

धर्मात्मा : भाईजी ! दर्शनावरण कर्म भी ऐसा ही पूर्णतया निरपराध है। छद्मस्थ जीव के साथ तो उसका कार्य, ज्ञानावरण के पूर्व होता है। उसके क्षयोपशम की निमित्तता में पदार्थ का मात्र सामान्य प्रतिभास ही होता है। तब वह इस जीव को दुखी कैसे कर सकेगा ?

दुखी : भाईजी ! ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म भले ही हमें कष्ट नहीं देते हों; परन्तु वेदनीय कर्म के कारण तो मैं प्रति-समय परेशान हूँ।

धर्मात्मा : भैयाजी ! जरा गंभीरता से विचार कीजिए !! क्या वेदनीय कर्म जड़ नहीं है ? क्या वह विना निमंत्रण के आता है ? क्या उससे संसार बड़ता है ? क्या उसकी निमित्तता में उसका या अन्य किसी कर्म का बंध होता है ? क्या उससे हमारी शाश्वत सत्ता प्रभावित होती है ? यदि नहीं तो वह हमें परेशान कैसे करता होगा ?

अरे भाई ! वास्तविकता तो यह है कि वेदनीय कर्म अघाति होने से हमारे अनुजीवी गुणों का घात करने में निमित्त भी नहीं है। मोहनीय

और दर्शनावरण-ज्ञानावरण कर्म के सद्भाव में ही वह कुछ कार्य करने में समर्थ हो पाता है; अन्यथा नहीं। इसी कारण निरूपण के समय उसे, उनके मध्य स्थान दिया है। जो स्वयं अपने बल पर कुछ कार्य नहीं कर सकता हो; वह हमें कष्ट-दायक कैसे हो सकता है?

उसके संबंध में एक विशेष बात यह भी है कि वह अभी, सभी अरहंत परमेष्ठिओं के भी विद्यमान है। लोक में भी देखा जाता है कि परेशान करने की क्षमता वाला सदा बड़ों को परेशान कर ही प्रसन्न रहता है। उसे छोटों को परेशान करने में मजा नहीं आता है। अरहंत भगवान के साता-असाता—दोनों वेदनीय का उदय होने पर भी वे अनंत सुखी, भाव-सिद्ध हैं अर्थात् वे उससे परेशान नहीं हैं; तब फिर हम भी वास्तव में उससे परेशान कैसे हो सकते हैं ?

इसके साथ ही वेदनीय कर्म अत्यधिक लचीला कर्म भी है। अपनी-अपनी योग्यतानुसार प्राप्त सामग्री के संबंध में हमारी विचारधारा परिवर्तित होते ही कर्म का उदय भी बदल जाता है। एक ही वस्तु, क्षण में अनुकूल, क्षण में प्रतिकूल प्रतीत होने लगती है। स्वरूप-स्थिरता के समय तो अनुकूलता-प्रतिकूलता कुछ अर्थ ही नहीं रखती है; तब उसे सुख-दुख-दाता कैसे कहा जाए ?

वास्तविकता तो यह है कि सामान्यतया असाता वेदनीय के उदय में प्रतिकूल वेदन के काल में ही भगवान याद आते हैं तथा साता वेदनीय के उदय में कुछ अनुकूल वेदन के काल में ही भगवान के पास जाने की भावना होती है। इसप्रकार यह कथंचित् उपकारक होने के कारण हमें तो इसे धन्यवाद देना चाहिए; परंतु हम तो इससे विपरीत उसके ऊपर दोषारोपण कर उसे अपमानित कर रहे हैं।

क्यों भाईजी ! इसमें कुछ सत्यता प्रतीत हो रही है या नहीं।

दुखी : भैयाजी ! बात तो परम सत्य प्रतीत हो रही है। हमने तो इस दृष्टि से कभी विचार ही नहीं किया। वेदनीय कर्म तो पूर्णतया निर्दोष ही प्रतीत हो रहा है। अपराध मेरा ही है – ऐसा समझ में आ रहा है।

ठीक है ! वेदनीय कर्म भले ही हमें दुखी नहीं करता हो; परंतु सम्पूर्ण कर्मों का राजा मोहनीय कर्म तो सदा से, सभी को सतत त्रस्त कर ही रहा है।

धर्मात्मा : भैया ! कैसी बातें कर रहे हैं आप !! क्या मोहनीय कर्म जड़ नहीं है ? क्या वह विना निमंत्रण के आ जाता है ? क्या अपनी अनंत-वैभव-संपन्न ज्ञानानंद स्वभावी शाश्वत सत्ता पर उसका कुछ भी प्रभाव हुआ है ? यदि नहीं; तो उसने हमें कष्ट कैसे दिया?

लोक में भी खेल आदि में सबसे पहले हार जाने वाला सबसे अधिक कमजोर माना जाता है। जीव जब आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ करता है तो सबसे पहले वह मोहनीय कर्म ही समाप्त होता है; तब वह सर्वाधिक बलवान कैसे हुआ ?

इसे 'कर्मों का राजा' कहने में कारण मात्र इतना है कि इसके उदय की निमित्तता में होने वाले जीव के विकारी भावों का निमित्त पाकर इस कर्म का और अन्य कर्मों का भी नवीन बंध होता है और यह सबसे अधिक काल (७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम) तक रहता है; परंतु इसमें उसका कुछ दोष नहीं है। उसे तो यह सब कुछ जानकारी भी नहीं है।

वास्तविकता तो यह है कि उसके कुछ मंद उदय की निमित्तता में ही हम अनादि-कालीन निगोद दशा को छोड़कर व्यवहार-राशि में आ पाए हैं; आज सैनी पंचेंद्रिय हो विषय-कषाय से कुछ निवृत्त होने के भाव हुए हैं; आत्म-कल्याण करने की रुचि जागृत हुई है; सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के मार्ग-दर्शन में कार्य करने का भाव प्रगट हुआ है; अतः इस संदर्भ में तो उसे धन्यवाद देना चाहिए; परंतु हम हैं कि उस पर मिथ्या आरोप मड़ रहे हैं।

क्यों भैया ! इसमें कुछ सत्यता है कि नहीं।

दुखी : भाईजी ! हमने तो कभी इस दृष्टि से विचार ही नहीं किया था; इसमें तो वह कर्म, पूर्णतया निर्दोष ही प्रतीत हो रहा है; हम ही सदोषी सिद्ध हो रहे हैं।

ठीक है ! वह भी हमें दुःख नहीं देता है – यह मान लेते हैं; परन्तु आयुष्क कर्म के कारण ही तो हम संसार में रह रहे हैं। अरहंत भगवान भी सिद्ध नहीं हो पाते हैं; अतः इसे तो कष्ट-दायक मानना ही होगा।

धर्मात्मा : नहीं भाईजी ! ऐसा भी नहीं है !! आयुष्क कर्म तो जड़

ही है; वह भी विना निमंत्रण के कहाँ आता है ? उसे तो और भी अधिक निमंत्रण लगते हैं। मिथ्यादर्शनादि के साथ ही भुज्यमान आयुष्क के त्रिभाग में लेश्या के मध्यम अंश मिलने पर ही आयुष्क कर्म का नवीन बंध होता है; अन्यथा नहीं। वह भी स्वयं अपने या अन्य कर्मों के बंध में कारण नहीं है; संसार-मोक्ष का भी कारण नहीं है।

वास्तविकता तो यह है कि भव-विपाकी होने के कारण इसके उदय की निमित्तता में जीव में औदयिक भाव भी प्रगट नहीं होते हैं; मात्र प्राप्त शरीर में इस जीव की विद्यमानता रहती है। इसका सदुपयोग कर हम अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।

आपने कहा कि अरहंत भगवान भी उसके कारण सिद्ध नहीं हो पा रहे हैं; परन्तु इसमें उस कर्म का क्या दोष है ? क्योंकि वह तो पूर्व-भव में इस जीव के अपराधी परिणामानुसार ही बँधा था। अपराध की सजा मिलना तो न्याय है।

उसमें भी विशेष यह है कि यदि ये साक्षात् सिद्ध नहीं हो पाए हैं तो क्या हुआ ? भाव-सिद्ध, जीवन्मुक्त तो हो ही गए हैं। अनंत-चतुष्टय-संपन्न सकल परमात्मा होने में इसने क्या बाधा दी ? उनका उस शरीर में रहना, भव्य जीवों के लिए मार्ग-दर्शन-हेतु, धर्म-प्रभावना हेतु, धर्म-तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए तो लाभदायक ही है; अत: उस पर भी दोष मड़ना उचित नहीं है।

क्यों भाईजी ! बात कुछ जच रही है या नहीं।

दुखी : भाईजी ! बात तो शत-प्रतिशत सत्य प्रतीत हो रही है। इससे तो मैं ही अपराधी प्रतीत हो रहा हूँ।

ठीक है ! माना कि मैं आयुष्क कर्म से भी परेशान नहीं हूँ; परंतु नाम-कर्म तो हमें हैरान कर रहा है कि नहीं? उसका तो परिवार भी बहुत बड़ा है।

धर्मात्मा : भाई ! नाम-कर्म भी आपको हैरान नहीं कर रहा है। उसका परिवार बड़ा अवश्य है; परन्तु उसमें पुद्गल, क्षेत्र, जीव—इन तीन संबंधी विपाकी प्रकृतिआँ विद्यमान हैं। उनमें से ६२ प्रकृतिआँ, पुद्गल-विपाकी और ४ प्रकृतिआँ, क्षेत्र-विपाकी हैं—यह तो आप जानते ही हैं। इन ६६ प्रकृतिओं का सीधा संबंध जीव के साथ नहीं

है। जीव-विपाकी मात्र २७ प्रकृतिओं के उदय की निमित्तता में ही जीव में औदयिक भाव होते हैं; परंतु वे भी नवीन बंध में, संसार बड़ाने में कारण नहीं हैं। जड़पना, विना निमंत्रण के नहीं आना/जीव के विकारी भावों का निमित्त पाए विना नहीं बँधना इत्यादि कर्म संबंधी अन्य सभी विशेषताएं तो इसमें भी विद्यमान हैं। अरहंत भगवान के विद्यमान होने पर भी उन्हें वह रंचमात्र भी दुखी नहीं कर रहा है।

विशेष बात तो यह है कि वह अघाति कर्म होने से जीव के अनुजीवी गुणों का घात करने में निमित्त भी नहीं होने से सुख-दुख का कारण भी नहीं है। इसके उदय की निमित्तता में शरीर संबंधी संपूर्ण व्यवस्था; गति, जाति आदि रूप व्यवस्था होती है। मनुष्य गति, पंचेंद्रिय जाति, पर्याप्तक दशा, औदारिक शरीर, शारीरिक स्वस्थता आदि उसके ही उदय की निमित्तता में हुए कार्य हैं। तीर्थंकर का समवसरण, दिव्यध्वनि, अतिशय आदि भी उसके ही उदय की निमित्तता में हुए कार्य हैं। इस संदर्भ में तो हमें उसके प्रति आभार व्यक्त करना चाहिए था; परंतु इससे विपरीत हम तो उस पर मिथ्या आरोप लगा रहे हैं।

क्यों भाईजी ! बात कुछ समझ में आ रही है।

दुखी : हाँ भाईजी ! बात तो परम सत्य प्रतीत हो रही है। जड़, अघाति नाम-कर्म मुझे हैरान कैसे कर सकता है ? इस पर कलंक लगाना मिथ्या है; परन्तु गोत्र-कर्म से तो हम हैरान हैं ही।

धर्मात्मा : क्यों भाई ! ऐसी उसमें क्या विशेषता है ? जिस कारण आप उससे परेशान हैं। नाम-कर्म संबंधी सभी विशेषताएं ही तो उसमें हैं; तब वह किसके बल पर आपको परेशान करने लगा ? जरा सोचिए तो सही !! वह भी जड़ है, विना निमंत्रण के नहीं आता है; किसी भी रूप में नवीन बंध के लिए कारण नहीं है, संसार बड़ाने में समर्थ नहीं है; अघाति होने से अरहंत भगवान के भी विद्यमान है। जब वह उन्हें परेशान नहीं कर रहा है; तब आपको परेशान क्यों करेगा?

क्यों भैया ! बात में कुछ सत्य तथ्य है कि नहीं?

दुखी : हाँ भाईजी ! बात तो यथार्थ है। ठीक है !! माना कि गोत्र-कर्म हमें हैरान नहीं करता है; परंतु अंतराय कर्म से तो सभी त्रस्त हैं। वह तो प्रत्येक कार्य में विघ्न डालता है; कुछ भी कार्य करने नहीं देता है। सभी संसारी उससे सर्वाधिक हैरान हैं।

धर्मात्मा : नहीं भाईजी ! ऐसा कहना उचित नहीं है। वह भी जड़ है, विना बुलाए नहीं आता है, किसी भी रूप में नवीन कर्म-बंध के लिए कारण नहीं है, उससे संसार भी नहीं बड़ता है; तब वह हैरान कैसे कर सकता है?

वास्तविकता तो यह है कि वह घाति होने पर भी वेदनीय, नाम, गोत्र—इन तीन अघाति कर्मों के सहयोग से ही कुछ अपना कार्य कर पाता है। स्वयं अघाति के समान ही असमर्थ होने के कारण उसे अघाति के बाद स्थान मिला है। उसमें पाँचों ही प्रकृतिआँ देशघाति हैं, सर्वघाति एक भी नहीं है।

वस्तु-स्थिति तो यह है कि उसका उदय, कदाचित् संयोग, परिस्थिति आदि मिलने में; किसी कार्य के होने में बाधक हो सकता है; परन्तु यदि हम मन ही मन किसी अच्छे कार्य की अनुमोदना करें तो उसमें वह क्या कर सकता है ? अत: उसे भी दोष देना, व्यर्थ है।

वास्तविक तो यह है कि अंतराय कर्म तो क्या ? कोई भी कर्म आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ करने वाले जीव के आड़े नहीं आता है; वरन् मार्ग साफ करता हुआ निकल जाता है। कहा भी है –

''जिस समय हो आत्म दृष्टि, कर्म थर-थर काँपते हैं।
भाव की एकाग्रता लख, छोड़ खुद ही भागते हैं।।''

अत: किसी भी कर्म पर अपना अपराध मड़ना, अन्याय है। जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा मानने वाला तो ऐसा पाप नहीं करता है।

दुखी : धन्य हैं भाईजी आप ! आपने आज मुझे एक नवीन दृष्टि देकर मेरा महा उपकार किया है। मैं तो अभी तक यही मानता था कि सारा दोष कर्म का ही है; परंतु आज मुझे यह ज्ञात हुआ कि वास्तव में कर्म का तो कुछ दोष है ही नहीं। ज्ञान-शून्य होने से उन्हें अपराध करना आता ही नहीं है। उनका प्रत्येक कार्य पूर्णतया न्याय-नीति संपन्न है। अपराध पूर्णतया मेरा ही है। मैं अपने अपराध से ही दुखी

हूँ; उसी का दंड भोग रहा हूँ। किसी ने ठीक ही कहा है—

''कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई।।''

भाईजी ! आपकी कृपा से यह तो भली-भाँति समझ में आ गया कि पूर्णतया अपराध, मेरा ही है; परंतु वह मेरा अपराध क्या है ? तथा कैसे मिटे ? मैं कर्म-बंध से मुक्त हो सुखी कैसे होऊँ ? यह समझ में नहीं आया है। कृपया यह भी समझाकर मुझे अनुगृहीत कीजिए।

धर्मात्मा : देखो भाई ! अनंत-वैभव-संपन्न, शाश्वत, ज्ञानानंद स्वभावी अपने भगवान आत्मा को अपनत्व रूप से नहीं जानना, नहीं मानना, इसमें ही संतुष्ट हो सतत स्थिर नहीं रहना ही एक-एक समयवर्ती पर्यायगत वह अपराध है, जिससे सभी कर्मों का बंध होता है; अत: अंतरोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा इसे नष्ट करना चाहिए। वास्तव में तो ये परोन्मुखी पर्यायें ही अपराधी हैं।

यद्यपि इस परिणमन से अभेदकर आत्मा को भी अपराधी कह दिया जाता है; तथापि इससे शाश्वत सत्ता संपन्न आत्मा, वास्तव में अपराधी नहीं हुआ है। यदि हो जाता, तो फिर कभी अपराध मिटना, संभव ही नहीं होता। यह अपराध तो ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र आदि गुणों की एक-एक समयवर्ती पर्याय में हुआ है। वह स्वयमेव सदा से ही प्रति-समय नष्ट होता आ रहा है; परंतु इनसे पूर्णतया निरपेक्ष, शाश्वत, अनंत-वैभव-संपन्न, एक रूप रहने वाले अपने भगवान आत्मा को अपनत्व रूप से स्वीकार नहीं करने के कारण अपराध की संतति समाप्त नहीं हो पा रही है। हमें तो मात्र इस आपराधिक संतति को विराम देने का पुरुषार्थ करना है।

इसे नष्ट करने के लिए वास्तव में इसे नष्ट करने का पुरुषार्थ नहीं करना है; वरन् इन सबके मध्य भी इनसे पूर्णतया अप्रभावित रहने वाले, अनंत-वैभव-संपन्न, शाश्वत, ज्ञानानंद स्वभावी अपने भगवान आत्मा को अपनत्व रूप से जानकर, पहिचानकर, इसमें ही संतुष्ट हो स्थिर रहने का पुरुषार्थ करना है। इस स्थिरता के अनुपात में ही नवीन कर्म-बंध रुक जाता है; अर्थात् उनका संवर हो जाता है तथा पुराने

कर्म भी निर्जरा द्वारा समाप्त होने लगते हैं।

स्वरूप में परिपूर्ण स्थिरता होते ही द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म का सदा-सदा के लिए समापन हो सिद्ध दशा की प्रगटता हो जाती है। सादि अनंत काल पर्यंत पूर्णतया निर्बंध, स्वतंत्र, अव्याबाध, अतींद्रिय ज्ञानानंदमय निकल परमात्मारूप जीवन हो जाता है।

इसके लिए सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का निर्णय कर उनके मार्ग-दर्शन में तत्त्वाभ्यास, तत्त्व-विचार, तत्त्व-निर्णय कर स्व-पर के भेद-विज्ञान पूर्वक अभेद, अखंड, शाश्वत, अपने भगवान आत्मा में स्थिर रहने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

यदि बुद्धि पूर्वक यह पुरुषार्थ किया तो स्वत: ही कर्मों की शक्ति क्षीण होने लगती है। नियम से मोक्षमार्ग प्रारंभ हो जीवन भूमिकानुसार सुख-शांतिमय हो जाता है। कालांतर में परिपूर्ण स्वरूप-स्थिरता होते ही कर्मों का आत्यंतिक अभाव हो मोक्ष दशा प्रगट हो जाती है; अत: एक मात्र यही पुरुषार्थ, कर्तव्य है।

दुखी : भाईजी ! आज आपने मेरा बहुत बड़ा अद्वितीय उपकार किया है। इसके लिए मैं आपका चिर-ऋणी रहूँगा। आपके मार्ग-दर्शन को शिरोधार्य कर आज से ही मैं तत्त्व-निर्णय करने की दिशा में सक्रिय होता हूँ। ऐसा शाश्वत, स्वाधीन, निराकुल सुख प्राप्त करने का उपाय बताने वाला जैन शासन जयवंत वर्तो... 卐

परमार्थ प्रतिक्रमण करने की पद्धति

आचार्य कुन्दकुन्द; नियमसार, गाथाओं का हिंदी पद्यानुवाद

बालक नहीं मैं वृद्ध नहिं नहिं युवक उन कारण नहीं।
कर्ता न कारयिता नहीं कर्तानुमंता भी नहीं।।७९।।
मैं राग नहिं मैं द्वेष नहिं नहिं मोह उन कारण नहीं।
कर्ता न कारयिता नहीं कर्तानुमंता मैं नहीं।।८०।।
मैं क्रोध नहिं मैं मान नहिं माया नहीं मैं लोभ नहिं।
कर्ता न कारयिता नहीं कर्तानुमोदक मैं नहीं।।८१।।
इस भेद के अभ्यास से मध्यस्थता चारित्र है।
चारित्र दृढता-हेतु ही प्रतिक्रमण आदि हैं कहे।।८२।।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड, प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार की गाथा वर्णानुक्रमणिका

गाथा	गा.क्र.	पृ.	गाथा	गा.क्र.	पृ.
अ			क		
अक्खाणं अणुभवणं...	१४	४८	कदलीघादसमेदं...	५८	१४०
अणणोकम्मं मिच्छं...	७५	१६५	कम्मकयमोहवड्ढिय...	११	४०
अत्थं देक्खिय जाणदि...	१५	५१	कम्मागमपरिजाणग...	६५	१५१
अप्पोवयारवेक्खं...	६१	१४०	कम्मत्तणेण एक्कं	६	२२
अब्भरहिदादु पुव्वं...	१६	५६	कम्मद्दव्वादण्णं...	६४	१५१
आ			केवलणाणावरणं...	३९	१०५
आउबलेण अवट्ठिदि...	१८	५६	केवलणाणं दंसण...	१०	३१
आऊणि भवविवाई...	४८	१२१	ग		
आयदणाणायदणं...	७४	१६५	गदिआदि जीवभेदं...	१२	४३
आवरणमोहविग्घं...	९	३१	गदिजादी उस्सासं...	५१	१२१
इ			घ		
इट्ठाणिट्ठविजोगं...	७७	१६५	घादिं व वेयणीयं...	१९	५६
उ			घादीणीचमसादं...	४३	१०९
उच्चस्सुच्चं देहं...	८४	१७५	घादीवि अघादिं वा...	१७	५६
उवघादमसग्गमणं...	४४	१०९	ज		
ए			जाणुगसरीर भवियं...	५५	१३७
एइंदियमादीणं...	८०	१७०	जीरदि समयपबद्धं...	५	१६
ओ			जंतेण कोद्दवं वा...	२६	८१
ओरालियवेगव्विय...	८१	१७०	ण		
ओहिमणपज्जवाणं...	७१	१५८	णलया बाहू य तहा...	२८	९१
ओही केवलदंसण...	७३	१६१	णवगेविज्जाणुद्दिस...	३०	९३
अं			णामं ठवणा दवियं...	५२	१३१
अंतिमतियसंहडणं...	३२	९३	णाणावरणचउक्कं...	४०	१०५
अंतोमुहुत्तपक्खं...	४६	११६	णाणस्स दंसणस्स...	८	२९

गाथा	गा.क्र.	पृ.
णाणस्स. पढिदमिदि...	२०	५६
णिरयादीण गदीणं...	७९	१७०
णिरयायुस्स अणिट्ठा...	७८	१६८
णोआगमभावो पुण कम्म...	६६	१५१
णोआगमभावो पुण सग...	८६	१७८
त		
तं पुण अट्ठविहं वा...	७	२९
तव्वदिरित्तं दुविहं...	६३	१५१
तित्थयरं उस्सासं...	५०	१२१
तेजाकम्मेहिं तिये...	२७	८७
थ		
थिरजुम्मस्स थिराथिर...	८३	१७०
थीणुदयेणुट्ठविदे...	२३	७७
थीपुंसंढसरीरं...	७६	१६५
द		
दव्वे कम्मं दुविहं...	५४	१३५
देहादी फासंता...	४७	१२१
देहे अविणाभावी...	३४	१०१
देहोदयेण सहिओ...	३	१२
प		
पंचण्हं णिद्दाणं...	७२	१६१
पंच णव दोण्णि...	२२	६८
पंचणवदोण्णिछव्वी...	३५	१०१
पंचणव.उदयपयडीओ।	३६	१०१
पंचणव. सत्तपयडीओ।	३८	१०१
पडपडिहारसिमज्जा...	२१	६२
पडपडि. आहारं देह...	६९	१५५
पढमादिया कसाया...	४५	११६

गाथा	गा.क्र.	पृ.
पणमिय सिरसा णेमिं...	१	७
पडविसय-पहुदि...	७०	१५८
पयडी सील सहावो...	२	९
पयलापयलुदयेण य...	२४	७७
पयलुदयेण य जीवो...	२५	७७
ब		
बंधणपहुदि-समण्णिय...	८२	१७०
भ		
भत्तपइण्णा इंगिणि...	५९	१४०
भत्तपइण्णाइविही...	६०	१४०
भवियंति भवियकाले...	६२	१४९
भूदं तु चुदं चइदं...	५६	१३७
भेदे छादालसयं...	३७	१०१
म		
मूलुण्हपहा अग्गी...	३३	९९
मूलुत्तरपयडीणं...	६७	१५५
मूलुत्तर. णामादिचउ...	६८	१५५
व		
विरियस्स य णोकम्मं...	८२	१७५
विसवेयणरत्तक्खय...	५७	१४०
वेयणियगोदघादीणे...	४९	१२१
स		
सण्णी छस्संहडणो...	३१	९३
संताणकमेणागय...	१३	४६
समचउरवज्जरिसहं...	४२	१०९
सरिसासरिसे दव्वे...	५३	१३३
सादं तिण्णेवाऊ...	४१	१०९
सिद्धाणंतिमभागं...	४	१४
सेवट्ठेण य गम्मइ...	२९	९३

सल्लेखना महा-महोत्सव भावना

ये महा-महोत्सव मृत्यु-महोत्सव, आया मंगल-कारी। ये...
षट्-द्रव्यमई इस दुनिया में, नहिं कोई किसी का होता है।
अक्षय अनंत अद्भुत वैभव, शाश्वत जड़-चेतन सत्ता है।।
सब ही स्वतंत्र परिपूर्ण स्वयं में, नहीं अन्य से नाता है।
यह विश्व-व्यवस्था वस्तु-व्यवस्था, शाश्वत सुख की दाता है।।१।। ये...
यह जीव सदा घन-पिंड अमूर्तिक प्रभु विभु ज्ञानानंदी।
नित निराकार निर्बंध असंख्य-प्रदेशी शाश्वत जीवी ही।।
पर भूल अनादि से निज वैभव, रमता नित नव-नव तन में।
यह तन मेरा, मैं तन-मय हूँ, मेरा सर्वस्व इसी तन में।।२।। ये...
मोटा, पतला, काला, गोरा, नर, नारक, देव पशु मैं ही।
तन संयोगी सब मेरे हैं, मैं धनी, दरिद्री, मूरख भी।।
विद्वान, पिता, माता, भाई, भगिनी, सुत, तिय, सद्दृष्टि मैं।
मिथ्यात्वी, गृह-त्यागी, गृह-वासी, विविध रूप धारी हूँ मैं।।३।। ये...
संयोग वियोग-स्वभावी, इससे नष्ट सदा होता रहता।
आतम उनको निज मान-मान, नित कष्ट अकथ सहता रहता।।
गति चार लाख चौरासी योनि, भटक-भटक तड़फा करता।
संयोगों को स्थिर करने का, व्यर्थ परिश्रम नित करता।।४।। ये...
सर्वस्व लुटा संयोग-नाश से, तन-विनाश मैं नष्ट हुआ।
यों मान स्वयं का ह्रास, इन्हें रखने को करता कष्ट महा।।
अन्याय, अनीति, असदाचारी, धर्म, कर्म भी नहिं गिनता।
अपने जैसे भगवान आत्मा, अन्य जीव भी नहिं गिनता।।५।। ये...
यों दु:ख अनंते भोग-भोग तन संयोगादि नव पाता।
अपनी विपरीत मान्यता से, फिर वही कहानी दुहराता।।
अब सुनो चेत जाओ चेतन, यदि इससे बचना चाहो तो।
अपने स्वरूप को पहिचानो, तुम अजर अमर अविनाशी हो।।६।। ये...
संयोग देह का नाश नियम से, पर आतम पूरा रहता।
परिपूर्ण रहा, निरपेक्ष सदा, हो पाया नहिं पर से नाता।।
इनके रहने, नहिं रहने से, अपने वैभव को आँच नहीं।
नि:संग सदा जीवंतमई, जीता-मरता मैं कभी नहीं।।७।। ये...
ये कर्माधीन देह आदि, भोजन, औषध से नहिं रहते।
नहिं देवी-देव सुसेवा से, नहिं मंत्र-तंत्र से ये रहते।।
इनके रहने, नहिं रहने से, मेरी सत्ता निरपेक्ष सदा।
मैं स्वयं पूर्ण एकत्वमई, पर में है मेरी नित परता।।८।। ये...
देहादि को अपनाने से, बहु दु:ख और दुर्भाग्य मिला।
नि:संग आतमामय होते ही, शाश्वत सुख सौभाग्य जगा।।
सत् देव-शास्त्र-गुरु के प्रसाद से, जाना परम शरण आतम।
है नमन उन्हें बस शरण यही, हो जाऊँगा मैं परमातम।।९।। ये...
तन संयोगादि हों वियुक्त, उससे पहले तज दूँ ममता।
निज की प्रभुता को धारण कर, अब जाग गई सबमें समता।।
निज में ही नित संतुष्ट, नित्य ही तृप्त, रही न पर-ममता।
अब मृत्यु-महोत्सव मना रहे, बन धीर-वीर तज कायरता।।१०।। ये...
परिवार, कुटुंबी, मित्र सभी, अब सुनो महोत्सव समय महा।
अद्भुत आनंदमई अवसर पर रो अपशकुन नहीं करना।।
सब साधर्मी हो साधर्मी बन आओ उत्सव मंडप में।
धो कर्म-कालिमा शुद्ध भावमय उदासीनता हो मन में।।११।। ये...
सज्जन सत् में संतुष्ट सदा, ईमान धर्म पालन करना।
हिंसादि असतप्रवृत्ति का, अब अनुमोदन भी नहिं करना।
तन संयोगादि भिन्न सदा, इन पर अधिकार नहीं करना।
इनका जो भी हो होने दो, तुम बस ज्ञाता-दृष्टा रहना।।१२।। ये...
अशरीरी शिव-सुखमय नि:संग दशा पाने का यह उत्सव।
निकलंक निजातम शुद्ध जिनातम, बनने का पावन अवसर।।
प्रत्येक स्थिति संयोगों में, तुम समता वेदन करना।
बस ज्ञायक रहकर निज में रम, उत्सव महिमा मंडित करना।।१३।। ये...
आशीष पंच परमेष्ठी का, नित जिनवाणी माँ का प्रसाद।
निज आतम ही परमातम है, इसमें रम मिटते सब विषाद।।
हो गया सफल मंगल उत्सव, मिट गया पुनर्भव का निवास।
सौभाग्य रहेगा नित सुखमय, अब होगा शिवपुर में विलास।।१४।। ये...
इससे उत्साह हुआ दुगुना, अब कमी नहीं रह पाएगी।
हो चाहे देर भले ही पर, परिपूर्ण विकलता जाएगी।।
निर्ग्रंथ मार्ग अपनाया है, निश्चित निर्ग्रंथ दशा होगी।
सादि अनंत ध्रुव अचल अनूपम सुखमय सिद्ध दशा होगी।।
ये महा-महोत्सव मृत्यु-महोत्सव, आया मंगल-कारी।।१५।। ये...